जुलाई-सितं० 1972

नया शिक्षक

रु० 2.50

ईस्वी सन 2000 में शिक्षा
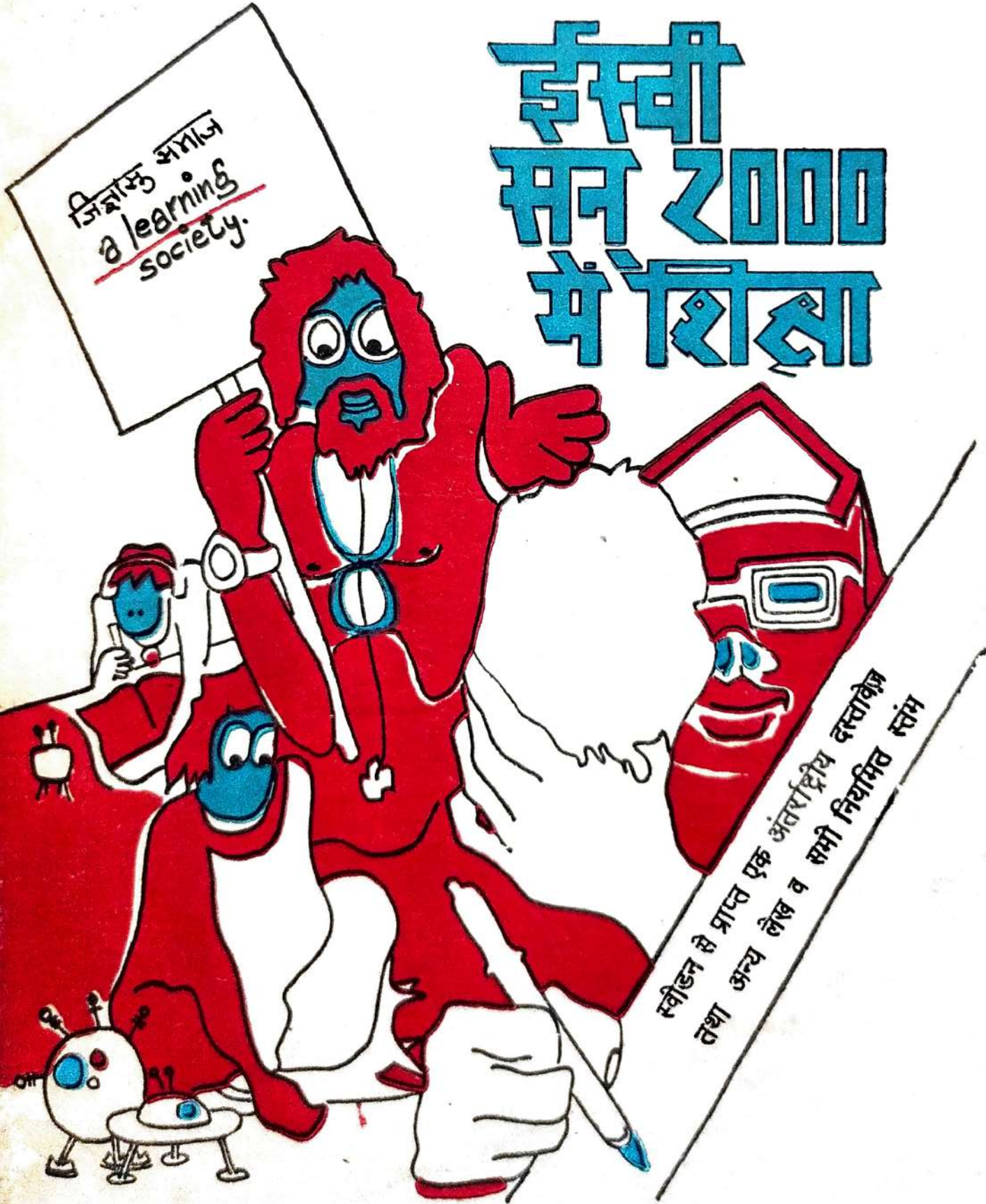
स्वीडन से प्राप्त एक अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेज़
तथा अन्य लेख व सभी नियमित स्तंभ

Teacher Today

नया शिक्षक

Vol. 15 No. 1 July-Sept., 1972

स्वीडन से प्राप्त एक महत्त्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेज़

ईस्वी सन् 2000 में शिक्षा

☐

टार्स्टन ह्यूसन

☐

'शैक्षिक समस्याओं के अध्ययन का अंतर्राष्ट्रीय संस्थान', स्टॉकहोम विश्वविद्यालय, स्टॉकहोम (स्वीडन) में स्वीडन के नेशनल बोर्ड आव् एज्यूकेशन की प्रेरणा से 1 नवम्बर 1971 को संपन्न हुई एक अनुसंधान-प्रायोजना के प्रतिवेदन से लिये गये आंशिक उद्धरण।

प्रस्तावना :

'दो हजारवें वर्ष में शिक्षा' राष्ट्रीय शिक्षा बोर्ड, स्वीडन द्वारा प्रवर्तित तथा स्टॉकहोम शिक्षा-संस्थान के शैक्षिक शोध-विभाग द्वारा आयोजित एक शोध-प्रायोजना थी। इस प्रायोजना के निर्देशक प्रोफेसर टॉर्स्टन ह्यूसेन थे और उनके सहायक श्री कार्ल हेनरिक लार्सन। प्रायोजना का मूल प्रतिवेदन हाल ही में स्वीडिश भाषा में प्रकाशित हुआ है। उसके आधार पर उसका अंग्रेजी संस्करण तैयार किया गया। जैसा कि शैली से स्पष्ट है, इस प्रतिवेदन के अनेक अंश अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में मौखिक रूप से प्रस्तुत किए जा चुके हैं।

स्वीडन की शिक्षा के समक्ष जो मूलभूत समस्यायें आज उपस्थित हैं या कल होने वाली हैं उन पर विचार-विमर्श के लिए इस प्रायोजना-दल ने स्वीडन के कई उत्कृष्ट शिक्षाविदों को प्रेरित करने का प्रयत्न किया है। विचार-विमर्श के साथ-साथ प्रश्नावलियों व साक्षात्कारों द्वारा भी यह प्रयत्न किया गया कि नीति-निर्माता और आयोजकगण आज जो निर्णय ले रहे हैं उसके विषय में कुछ बोलें, कुछ कहें, कुछ अधिक मुखर बनें।

प्रथम तीन अध्यायों में वर्णित मूल समस्याओं पर उठी कुछ प्रतिक्रियाओं का विवरण चौथे अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

सिक्सटेन मार्कलुण्ड
विभागाध्यक्ष
शोध एवं विकास-केन्द्र
राष्ट्रीय शिक्षा बोर्ड, स्टॉकहोम, स्वीडन

अनुक्रमणिका

१

शिक्षा में भविष्यशास्त्रीय अध्ययन के उद्देश्य

१.१. प्रारम्भिक टिप्पणी

हमारे विद्यालयों में जो किशोर इस समय हैं वे आगामी २०-३० वर्षों में, यानी इस शताब्दी की समाप्ति पर अपने जीवन के सब से अधिक उत्पादक तथा सार्वजनिक रूप से सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति होंगे। शिक्षा के वे प्रयोजन जो विद्यालयों के सम्मुख हैं, और अध्यापन की विषय-वस्तु जिसे वे प्रदेय मानते हैं, वह सब इस दृष्टि से निर्धारित होने चाहिए कि वे सब 'आज' के लिए नहीं हैं। वे सब अतीत के लिए तो हो ही नहीं सकते, बल्कि वे सब आने वाली उन दशाब्दियों के लिए होंगे, जो कि तीव्रतम गति से परिवर्तन-शीलता के लक्षण लिए हुए हमारे सामने आने वाली हैं। अतः समसामयिक शैक्षिक आयोजना को उन प्रभावों का पूर्व-विचार रखना चाहिए जो कि समाज पर, अपितु संसार पर, आगामी २०-३० वर्षों में पड़ने

वाले हैं । यों तो केवल यह पूर्व- विचारणा भी पर्याप्त नहीं होगी । निम्नलिखित दृष्टान्त से इसे स्पष्ट करें । स्वीडिश रिक्सडैग ने १९६७ में शिक्षक-प्रशिक्षण की नवीन पद्धतियों पर कानून पास किया और १९६९ में शिक्षकों का प्रथम दल उन नवीन पद्धतियों के अन्तर्गत प्रशिक्षित होकर निकला।[1] इन शिक्षकों से आने-वाले ३५-४५ वर्षों तक व्यावसायिक रूप से सामान्यतः सक्रिय बने रहने की आशा की जाती है। वे उन किशोरों को पढ़ा रहे होंगे जिनका उत्पादनशील जीवन लगभग ५० वर्षों तक चलेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षक-प्रशिक्षण के जो निर्णय १९६० की दशाब्दी के लिए लिए गए हैं वे २१वीं शताब्दी के मध्य तक प्रभावशाली रहेंगे।

पूर्ववर्ती टिप्पणियाँ शिक्षा में भविष्यशास्त्रीय अध्ययन की उस शैली का औचित्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होंगी, जो विद्यमान आयोजनाओं तथा निष्कर्षों के प्रभाव को भावी विद्यालयों के लिए स्वीकार करके चलती हैं । क्या आज से तीन दशक बाद के विद्यालय किसी भी प्रकार से हमारे आज के विद्यालयों की धारणा के अनुरूप बने रह पाएँगे ? वर्तमान शताब्दी में 'शिक्षा' तथा 'विद्यालय' किसी न किसी रूप में समानार्थी सम्बोध बनकर उभरे हैं । स्वीडन में, अनिवार्य प्रारम्भिक विद्यालयों की स्थापना गिल्ड पद्धति के औपचारिकतया विस्थापन के साथ हुई थी । उसके संस्थानिक ढाँचे में हस्तकलाओं का भी अपना स्थान बन चुका था । व्यापारिक प्रशिक्षण के लिए 'एप्रेन्टिस पद्धति' कुछ समय तक चलती रही । विगत शताब्दी में शिक्षा के संस्थानिक रूप को नियमित विद्यालयीय शिक्षा, कक्षायी संरचना, अध्यापक-प्रधान कक्षाध्यापन जाँच, अंक एवं परीक्षाओं के स्तर आदि ने निर्धारित किया है और स्कूली शिक्षा उसी ढाँचे में पनपती रही है । अति प्राचीन समय से हमने शिक्षा के सम्बोध को मात्र आयु वर्ग से सम्बन्धित कर रखा है । दूसरे शब्दों में जीवन के लिए अपेक्षित व्यावहारिक तथा बुनियादी ज्ञान व कौशल का अर्जन, जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ही संभव माना जाता रहा है । परन्तु इस शताब्दी के आरम्भ से ही कुछ स्वतंत्र एवं स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम प्रायोजित किए गए, और स्केन्डिनेविया में तो ये प्रौढ़-शिक्षा कार्यक्रम संस्थानिक विद्यालय-व्यवस्था से पृथक कर दिए गए थे । काफी लम्बे समय तक इस स्वैच्छिक तथा अनौपचारिक व्यवस्था ने 'अध्ययन दल' तथा रात्रि कक्षाओं द्वारा लोगों को कुछ सामान्य शिक्षा देने तथा उनमें कुछ विशिष्ट कौशलों के विकास करने (यथा – मातृभाषा पर अधिकार और सामाजिक व प्राकृतिक ज्ञान के अभिनवन) पर अपना ध्यान केन्द्रित किया था । उनका लक्ष्य उन बातों को ध्यान में लाने का था जिन्हें कि अधिकतर लोग अपनी प्रारम्भिक सार्वजनिक शिक्षा में प्राप्त नहीं कर पाते, और जो बहुत अधिक व्यापक भी नहीं थी । दूसरे शब्दों में वृत्तिका या व्यावसायिक कौशल का प्रशिक्षण देने का कोई परिभाषित लक्ष्य उनके सामने नहीं था । किन्तु विगत दशक को हम स्वयं भी देख रहे

हैं कि (कम से कम स्वीडन में) प्रौढ़-शिक्षा का लक्ष्य 'आजीविका' से सुसम्बद्ध हो गया है । प्रौढ़-शिक्षा के 'परम्परागत कार्यक्रम' एवं व्यावसायिक रूप से अभिनवीनीकृत प्रौढ़-शिक्षा कार्यक्रम दोनों ही परम्परागत विद्यालयी ढाँचे से पृथक रह कर कार्य कर रहे हैं । जहाँ तक स्वैच्छिक प्रौढ़-शिक्षा कार्यक्रमों का सम्बन्ध है, वे परम्परागत ढाँचे से पृथक रहकर अपने निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए स्वतंत्रतया कार्य करने के लिए स्वतंत्र हैं ।[2]

प्रौढ़-शिक्षा में हुए अद्यतन विकास ने यह तथ्य उजागर कर दिया है कि शिक्षा का अर्थ परम्परागत और औपचारिक विद्यालयीय शिक्षा से कहीं अधिक व्यापक होता है । जो युवा लोग आज विद्यालय में अध्ययन कर रहे हैं वे उस नई पीढ़ी से सम्बन्धित हैं जिसे टेलीविजन के माध्यम से शिशु-शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर मिला है और जिन्हें उस चमत्कारी माध्यम से शिक्षा मिलेगी जिसे 'कैथोड किरण ट्यूब' कहा जाता है और जो कक्षाध्यापक की स्थानापन्न होगी । क्षण मात्र का चिन्तन यह स्पष्ट करता है कि हमारे विद्यालय का प्रभाव-क्षेत्र कक्षाध्यापक के सम्बन्ध में भी अब घट गया है । जिस नये समाज में हम प्रविष्ट हो रहे हैं उसमें शिक्षा अधिकांश लोगों की जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया हो रही है तथा इस प्रकार वह मात्र बचपन और किशोरावस्था के कुछ वर्ष व्यतीत करने से कहीं अधिक व्यापक बात हो गई है । ऐसी स्थिति में विद्यालय एक संस्थागत अभिकरण के रूप में, जबकि वह भी प्रचण्ड परिवर्तन के दौर से गुजर रहा हो, केवल कुछ विशेष और सीमित कार्यों के लिए ही उत्तरदायी रह पाएगा ।

ये विरल संकेत मेरे प्रतिपाद्य विषय– भविष्यशास्त्रीय अध्ययन के प्रयोजन तथा प्रविधियाँ और आगामी शताब्दी हेतु शिक्षा का युक्तिसंगत कल्पनीय स्वरूप–की सामान्य पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त हैं ।

१.२. भविष्यशास्त्र के तीन केन्द्रीय प्रयोजन :

शिक्षा के वे केन्द्रीय प्रयोजन क्या हैं जिनकी भविष्यशास्त्र के लिए कल्पना की जा सकती है ?[3] जहाँ तक दिखाई पड़ता है, विकास की तीन पंक्तियाँ स्वयंसिद्ध जान पड़ती हैं :

(१) शाला-संगठन, पाठ्यक्रम निर्माण, अध्यापन-सामग्री तथा शिक्षक-प्रशिक्षण से सम्बन्धित समकालिक योजना तथा नीति-निर्धारण के परिणामों को परिभाषित करने तक अनुसन्धान अपने को परिसीमित कर सकता है । शाला संयम की निर्धारित रूप-रेखा कुछ ऐसी निश्चित धारणाओं पर निर्मित की जाती है कि प्रस्तावित भवन में आने वाले कई दशकों तक अमुक-अमुक प्रकार से कार्य चलता रहेगा । दीवारों से घिरा हुआ ढाँचा जो कि निश्चित आकार के कक्षों में विभाजित होता है, यह पूर्व मान्यता लेकर बनता है कि ये कमरे एक निश्चित संख्या के विद्यार्थियों के लिए होंगे – जिसे कि आज की स्थिति में कक्षाध्यापन के लिए सामान्य माना गया है – और वह ढाँचा

इस मान्यता पर बनता है कि उसकी सीमाओं में रहकर छात्र-गण विशेषतः प्रशिक्षित शिक्षकों के माध्यम से ज्ञान और विवेक प्राप्त करेंगे। इस प्रकार की योजना न्यूनाधिक रूप से कुछ ऐसे विकल्पों का बहिष्कार करती है, जो विद्यालय के कार्य तथा व्यवहार से सम्बन्धित हैं – ऐसे विकल्प जो कि सामान्य रूप से यह मानते हैं कि विद्यालय के कार्य तथा व्यवहार भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूप धारण करेंगे तथा उनसे छात्र और अधिक सक्रिय होंगे। चाहे जो हो, ऐसी योजना विविध विकल्पात्मक व्यवस्थाओं को चरितार्थ नहीं होने देती।

उपर्युक्त उदाहरण यह स्पष्ट करता है कि आज के विद्यालय सम्बन्धी निष्कर्षों के दीर्घकालिक प्रभाव को परिभाषित करना कितना महत्वपूर्ण है। यह एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त का निर्देश भी करता है। वह यह कि भविष्यशास्त्री यह व्याख्या करने की आकांक्षा नहीं करता और उसे करना भी नहीं चाहिए कि भविष्य में क्या घटित होने की सम्भावना है बल्कि वह इस आकांक्षा से काम करता है कि निकट भविष्य में क्या हो सकेगा? अपनी पुस्तक (Dialog i det fria) "उन्मुक्त संवाद" में स्वीडिश लेखक वेन फेगरबर्ग ने एक अनुभाग रखा है जिसे वे 'भविष्यवक्ता' कहते हैं। वह अनुभाग सन् १९६७ में प्रकाशित अमरीकी पत्रिका "डिडेलस" के "२००० वाँ वर्ष" अंक से अनुप्रेरित है।[४] इस पत्रिका में संयुक्त राष्ट्र की राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी द्वारा नियुक्त एक समिति के विवेचनों के परिणाम प्रस्तुत किए गए थे। फेगरबर्ग का कहना है कि "भविष्यवाणी का बड़ा महत्व है, वह हमें वर्तमान का विश्लेषण करने तथा उसे समझने के लिए बाध्य करती है। लेकिन वह हमें यह कभी नहीं बतला सकती कि क्या होने वाला है"। इस प्रकार भविष्य संबंधी अनुसंधान भविष्य का निर्माण करने में भी मदद कर सकता है।

अन्वेषक जहाँ समकालिक योजना तथा नीति-निर्णयों के परिणामों तथा अभिप्रायों की विवेचना करने पर जोर देता है, वहाँ तक वह सुन्दर ठोस भूमि पर खड़ा रहता है और उसे उन परिकल्पित धारणाओं पर निर्भर नहीं रहना पड़ता जिन्हें कि वह कल्पना के स्फटिक गेंद में से देखता है। लेकिन उसका कार्य तब शीघ्र ही अधिक कठिन हो जाता है जब वह एक कदम आगे बढ़ाता है तथा उन सांख्यिकी तथ्यों का बाह्याकलन करने लगता है जो दृष्टिगम्य हैं और वह निश्चय ही तब एक दुष्कर कार्य कर रहा होगा जब वह एक कदम और आगे बढ़कर सामान्य विकास के लक्षणों, तरीकों तथा मूल्यों को भविष्यकथन के रूप में आगामी दशकों के समाज पर घटित करने लग जाए। इन विपत्तिकारक दुस्साहसों के बारे में मैं अभी कुछ अधिक विस्तार से भी कहूंगा, लेकिन पहले कुछ अत्यावश्यक दृष्टिकोण उल्लेखनीय हैं। मान्यता यह है कि सभी विचारक इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि आज के निरन्तर परिवर्तनशील समाज में सम्पादनीय शैक्षिक आयोजना तथा समग्रतया सामाजिक आयोजना के स्वरूप में पर्याप्त लचीलापन होना चाहिए। उनमें अधिकाधिक विकल्पों के सन्निवेश की गुंजाइश रहनी चाहिए। भौतिक सुविधा की योजना बनाने वाले, विद्यालय भवन निर्माण के निर्देशन के लिए उत्तरदायी लोगों से इस दृष्टि-मति की अपेक्षा की जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो समकालिक आयोजना को विकल्पहीनता के दोष से बचना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि भविष्यशास्त्री को आधुनिक नीतिनिर्णय आदि का अध्ययन दो पक्षों से करना चाहिए :

पहला यह कि क्या आज की योजना तथा राजनीतिक निर्णय सार्वजनिक नीति के प्रचलित सामान्य उद्देश्यों के साथ सामञ्जस्य रखते हैं? दूसरा यह कि कौनसे भावी विकल्प आज के कार्य-कलापों द्वारा प्रतिबिंबित किए गए हैं? कुछ दशकों पूर्व जब स्वीडिश अधिकारियों ने निर्णय लिया था कि शहरी क्षेत्र में स्थित समस्त विद्यालयों को तात्कालिकतया केन्द्रित कर दिया जाए तथा छोटे अलाभकारी देहाती विद्यालयों को बन्द कर दिया जाए, तब वे कुछ निश्चित प्रशासनिक और शायद आर्थिक लाभ की प्रेरणा से उत्प्रेरित थे। दृष्टि यह थी कि बड़े पैमाने पर शैक्षिक परिचालन अधिक लाभप्रद होगा अपेक्षाकृत छोटे-छोटे शाला भवनों को जारी रखने के; अतः छोटे विद्यालयों को बन्द कर देना चाहिए; परिणाम स्वरूप युवकों का स्थानान्तरण बड़े शहरी विद्यालयों में हो रहा है और उनके साथ-साथ देहाती फार्मों का परित्याग और वहाँ जनह्रास उत्पन्न हो रहा है। एक अर्वाचीन अध्ययन में डॉ० सिक्सटेन मार्कलुण्ड[५] ने दर्शाया है कि छोटे विद्यालय, जो माध्यमिक विभागीय पाठ्यक्रम (जैसे ४ से ६ तक का स्तर) का अनुसरण करते हैं, वे किसी भी प्रकार बड़े विद्यालयों से हीनतर नहीं हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि जिस शैक्षिक लाभ की प्रत्याशा में ये छोटे-छोटे विद्यालय बन्द किए गये हैं वह असंदिग्ध नहीं है। सबसे अधिक विचारणीय परिणाम तो यह हुआ है कि दूरस्थ तथा विरल जनसंख्या वाले क्षेत्रों में इस नीति का नकारात्मक प्रभाव पड़ा है।

राजनीतिज्ञ वर्त्तमान समस्याओं के अल्पकालिक समाधान की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं। यह शायद इस दृष्टि से संवीक्षणीय है कि वे अपने अल्पकालिक जीवन की चेतना– प्रायः दो आम चुनावों के बीच का समय– से आक्रान्त रहते हैं। अतः जब उन्हें दीर्घकालिक योजनाओं (जो कि उनके लिए अहितकारी होती हैं) और अल्पकालिक योजनाओं (जो कि जनता के लिए हानिकारक होती हैं) में से एक को चुनना पड़ता है तब वे प्रायः मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं, यानी अल्पकालिक योजनाओं का ही चयन करते हैं। प्रशासक, विशेष रूप से अगर वे कठोर नौकरशाही के ढांचे में कार्य करते हैं (कुछ अन्यान्य कारणों से), न केवल भावी योजना की चिन्ता त्याग देते हैं बल्कि उन कार्य-कलापों का अर्थ तथा आशय समझने से भी कतराते हैं जो उनके हाथ में हैं तथा जो तात्कालिक हैं। दिन-प्रतिदिन की परेशानियाँ

और दैनिक नित्यचर्या प्रायः उन पर हावी रहती हैं और वे उनसे इतने दबे रहते हैं कि दीर्घकालिक तथा भावी परिकल्पनाओं की विचारणा के लिए उनके पास समय ही नहीं रहता। नौकरशाही का अब यह बहुत आवश्यक तत्व हो गया है कि वह केवल साम्राज्य रचना ही नहीं करती वरन् अपने वर्तमान व्यवसाय की औपचारिक तथा तकनीकी पूर्णता में भी इतनी आसक्त हो जाती है कि कभी कदाचित ही किसी के मन में यह प्रश्न उठता है कि वह जो कुछ कर रहा है उसका वास्तविक अर्थ और प्रयोजन क्या है। इस प्रसंग पर एक उत्तम तथा विशद् चर्चा भी प्राप्त है। उसका नाम ग्रिसजैक्टन (सुअर का शिकार) है। यह पुस्तक पी०सी० जरसिल्ड द्वारा लिखी गई है। इसमें बताया गया है कि सचिव सिल्जवर्ग मंत्रालय द्वारा सौंपे गए काम – स्वीडन से सारे सुअरों को दक्षता के साथ निकाल बाहर करना – में इतने तल्लीन हो गए कि वे कभी यह भी पूछताछ करने के लिए नहीं ठहरे कि आखिर इस दक्षता का प्रयोजन क्या हो सकता है!

कुछ और भी ऐसी बातें है जो नौकरशाही और राजनीतिक व्यवस्थापन को उनके कार्यों के दीर्घकालिक प्रभाव का अंकन करने में बाधक सिद्ध होती हैं। पिछले ५-६ वर्षों में हमने देखा है कि सामान्य मनुष्य की उपेक्षा पर आधृत योजनाओं और निर्णयों के विरुद्ध किस प्रकार उत्तेजना और आक्रोश के स्वर तीव्र से तीव्रतर हुए हैं।[६] माना यह जाता है और वह तर्कहीन भी नहीं है कि राजनैतिक विशेषज्ञों सहित तकनीशियनों और विशेषज्ञों द्वारा लिए गए तात्कालिक निर्णय, नगर आयोजना, सड़क-निर्माण, विद्यालय निर्माण, जल-योजना आदि के उनके आयोजन-नियोजन दीर्घकालिक प्रयोजन सापेक्ष ही तो हैं। इस विरोधाभास का एक उदाहरण और इस समय सर्वाधिक विवादास्पद प्रश्न इस बात को लेकर है कि कस्बों के दूरस्थ भागों में स्वतंत्र रूप से परिभ्रमण करने की स्वीकृति निजी बस सेवाओं को किस सीमा तक देनी चाहिए। इस प्रकार के प्रश्नों को आत्मसम्मान का बड़ा महत्वपूर्ण केन्द्र बना लिया जाता है। जो योजनाएँ किसी पूर्वकाल में बन गई थीं (जबकि परिस्थितियाँ कुछ भिन्न थीं) वे नौकरशाही के मन-मस्तिष्क में बद्धमूल निष्कर्ष बन कर जम जाती हैं। विशेषज्ञ तथा अधिकार-युक्त व्यक्ति जिन्होंने काफी लम्बे समय से इन मुद्दों पर कार्य किया तथा परिश्रम किया है, वे अनुभव करते हैं कि वे इस सम्बन्ध में ऊँची अन्तर्दृष्टि रखते हैं और तदनुसार वे कठोरता के साथ नवीनता का विरोध करते हैं बल्कि असहनशील होकर वे विरोधियों का विरोध करते हैं। दूसरे शब्दों में, वे विरोधियों से कहीं अधिक जानकार बन जाते हैं।

(२) भविष्यशास्त्री संख्यात्मक पदों में अभिव्यक्त कुछ प्रवृत्तियों को निश्चित करने का प्रयत्न कर सकता है, जैसे : विद्यालय प्रवेश, अध्यापन सामग्री के मूल्यों का विकास तथा उनका उपयोग। और, तब वह इन प्रवृत्तियों का बाह्याकलन कर सकता है, जैसे : यह पता लगाना कि मानक रेखाएँ किस

दिशा का निर्देश कर रही हैं। भविष्य में झाँकने की यह शैली जिसमें जनसांख्यिकी, विद्यालय संयंत्र तथा उनके आकार-प्रकार की संगणना आदि का आलेखन होता है अब स्थानीय तथा केन्द्रीय विद्यालय योजना की सामान्य चर्या बन गई है। फिर भी दशक पूर्व तक स्केन्डिनेविया में कोई यह सोचता तक नहीं था कि यह बात होने पर कि किसी समय जितने बच्चे उत्पन्न हुए हैं उसे आधार बनाकर क्या यह निश्चित भविष्यवाणी की जा सकती है कि ६ या ७ वर्षों के बाद अमुक संख्या में नये विद्यार्थी शालाओं में प्रवेश लेंगे।

तथापि बाह्याकलन प्रवृत्ति रेखा के भी कुछ भयंकर परिणाम हो सकते हैं। एक उदाहरण : १९५५ में स्वीडिश विश्वविद्यालयीय जाँच-कमीशन द्वारा कुछ "विषय विशेषज्ञ" अध्यापकों की माँग और पूर्ति का अनुमान लगाया गया। जब कमीशन ने १९५८[७] में अपना विशेष प्रतिवेदन प्रकाशित किया तो उससे ज्ञात हुआ कि १९६० के प्रारम्भ में माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षक पहले से ही अतिरिक्त हो जाएँगे तथा यह अतिरिक्तता क्रमशः बढ़ती जाएगी। यह विश्लेषण माध्यमिक विद्यालय उत्तीर्ण करने वाले उन छात्रों की संख्या जिन्होंने जिमनेजियम कोर्स लिया था, तथा १९५० के मध्य तक विज्ञान तथा कला विभाग से उपाधि-प्राप्त करने वालों की संख्या के आधार पर तैयार किया गया था। यह प्रतिपादित किया जा सकता था कि १९४० से १९५५ तक माध्यमिक विद्यालय छोड़नेवालों की संख्या ऊर्ध्वरेखीय रूप से बढ़ी। अनुमान यह था कि १९६० के मध्य तक यह वृद्धि जारी रहेगी। उसके बाद पूर्व काल की भाँति उस वृद्धि की सम्भावना नहीं की जा सकी थी। यह कल्पना भी की गई थी कि विज्ञान तथा कला विभाग के प्रथम वर्ष में प्रवेश वास्तव में उतना अधिक नहीं बढ़ेगा। अन्त में, नौ वर्षीय बहु-उद्देशीय विद्यालय कार्यक्रम की पायलट-योजना के अनुभवों का आकलन भी किया गया था। यह आकलन उच्च श्रेणी (ग्रेड ७ से ९) के उन छात्रों को लेकर किया गया था जिन्होंने अकादमिक विषयों का विकल्प चुना था और जिसमें अधिक प्रतिशत उनका था जिन्होंने दो विदेशी भाषाएँ चुनी थीं। अधिक समय नहीं बीता जब कि उपर्युक्त अनुमान अवास्तविक सिद्ध होने लगे। माध्यमिक विद्यालय छोड़ने वालों की रेखा ऊर्ध्वदिशा में न बढ़कर घातीय रूप से बढ़ने लगी, यानी कि ज्यामितीय गति से। इतना ही नहीं बल्कि आगामी विकास के क्रम को "शैक्षिक विस्फोट" नाम भी देना पड़ा जो कि ठीक था। १९६० के मध्य के लिए यह कल्पना की गई थी कि उत्तीर्ण छात्रों की संख्या वृद्धि की पूर्व दर से कम हो जायेगी, किन्तु वस्तुतः उस समय उसकी गति सर्वाधिक थी। अवरोध की कल्पना तो दूर रह गई, उल्टे विज्ञान तथा कला विभाग में नये प्रवेश तेजी से बढ़ते गए। अकादमिक विषय चुनने वाले छात्रों की संख्या में शीघ्रता से वृद्धि हुई। विशेषकर १९६२ के बुनियादी विद्यालय के सुधार के बाद इस प्रकार के विषय चुनने वाले छात्रों का अनुपात, १९५०

के लगभग एक-तिहाई भाग से बढ़कर दो-तिहाई से अधिक हो गया। १९६२ में सार्वजनिक बुनियादी विद्यालयों की स्थापना तथा १९६४ में माध्यमिक-शिक्षा-सुधार-कार्यक्रम के आरम्भ के साथ-साथ शैक्षिक अवसरों की स्थिति १९५८ में परिकल्पित स्थिति से कहीं अधिक विस्तृत हो गई तथा समस्त पूर्व निर्धारित भविष्यवाणियाँ मिथ्या सिद्ध हो गईं। १९६० के प्रारम्भ में स्वीडिश तथा आधुनिक भाषा अध्यापकों की अतिरिक्तता की घोषित भविष्यवाणी कभी फलित हुई ही नहीं। कला-स्नातकों की अतिरिक्तता का बहुत अधिक भय था, जबकि वस्तुतः उनका अभाव घटित हो गया और वह कहीं-कहीं तो गणित और विज्ञान स्नातकों के अभाव के परिमाण से भी बढ़ गया था।[8]

घटना घटित हो जाने के बाद कोई बुद्धि-प्रदर्शन हो यह इस उदाहरण का मन्तव्य नहीं था बल्कि यह इस बात का प्रमाण है कि जब किसी को शैक्षिक प्रवृत्तियों के बाह्याकलन की आवश्यकता पड़े तो उसे कल्पना की कुछ विशेष सहायता लेनी चाहिये। इस विशेष स्थिति में शैक्षिक वृद्धि की जो प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं वे पर्याप्त कारण बनाई जा सकती थीं ताकि उनके आधार से शिक्षा में निवेश तथा उसके उपभोग और आकर्षण के विविध पक्षों पर विचार किया जाता। यदि उस ढंग से सोचा जाता तो भविष्य-वाणियाँ अधिक सही हो सकती थीं। इस चिन्तना के आधार से व्यापक शैक्षिक अवसरों के अल्पकालिक प्रभाव की भविष्य-वाणी अधिक विश्वास के साथ की जा सकती है।

(३) भविष्यशास्त्री के लिए सामाजिक तथा राजनीतिक मूल्य अनुसन्धान के विधिसम्मत विषय हैं। उदाहरण के लिए, वह अध्ययन कर सकता है कि 'बहुलवादी' तथा 'एकात्मक समाज' शैक्षिक अर्थों में क्रमशः किस प्रकार कार्य करते हैं। तथापि, एक भविष्यशास्त्री किस प्रकार के भावी समाज की कल्पना कर रहा है, यह विवाद रहित नहीं हो सकता। अपने अध्ययन कार्य में वह अप्रत्यक्ष रूप से कुछ मूल्यों के निर्माण तथा उनके अधिग्रहण में शिक्षा की सहायता भी कर सकता है। भावी समाज का स्वरूप उन वैज्ञानिक तथा तकनीकी विभवों का यांत्रिक अनुसरण नहीं करता जो कि आज हमारे अधिकार में हैं; वह शायद हमारी भावी वैज्ञानिक व तकनीकी उपलब्धियों पर भी निर्भर नहीं रहता। भावी विकास की कसौटी है कि यदि हम अपनी यांत्रिक तथा तकनीकी शक्तियों का उपयोग करते तो कैसे करते हैं। इसका निश्चय सामाजिक तथा प्रचलित मूल्यों की वरीयता से होता है। चिकित्सा विज्ञान हमें जीने के कुछ सूत्र दे सकता है जिनके परिपालन से हम शरीर तथा मन से स्वस्थ रह सकते हैं। लेकिन फिर भी हम अपने आप को रोजगार के भीतर और बाहर ऐसी स्थितियों में भी पाते हैं, जो हम में तनाव उत्पन्न करती हैं और हम शारीरिक तथा मानसिक रूप से टूट जाते हैं। हम यांत्रिकी तथा तकनीकी परिदूषण से अपने वातावरण को दूषित होने देते हैं और

इस प्रकार अपने लिए तथा अपनी आने वाली पीढ़ी के लिए स्वास्थ्य की समस्याएँ उत्पन्न करते हैं।

क्या वे मूल्य जो प्राथमिकता तथा वरेण्यता का निर्धारण करते हैं, आने वाले दो या तीन दशकों में आवश्यक रूप से परिवर्तित हो जाएँगे? क्या विज्ञान तथा तकनीकी साधन उत्तम एवं स्वस्थ वातावरण के निर्माण के लिए अधिक समृद्ध हो सकेंगे? तथा 'जीने योग्य जीवन' एवं 'अच्छे जीवन' की धारणाओं के सम्बन्ध में क्या परिवर्तन होंगे? प्रोटेस्टेण्ट नीति-शास्त्र जिसके अन्तर्गत प्रत्येक के लिए यह कल्पना की जाती है कि वह अन्त तक उन मूल्यों से चिपटा रहेगा तथा पश्चिमी जगत में (समाजवादी देश में भी) वर्त्तमान पीढ़ी का जो एक बड़ा भाग उसी जीवन–आदर्श में लिप्त है, वह भी किसी दूसरे नीति शास्त्र द्वारा अतिक्रमित हो सकता है। जब तक 'श्रम सर्वोपरि' की नैतिकता का समाज में प्राधान्य रहेगा, प्रतियोगिताओं में व्यक्तिगत भिन्नता के आधार पर अंक देने की व्यवस्था हमारे विद्यालयों में भी प्रभुत्व बनाये रखेगी। तब पाठ्यक्रम के बारे में भी परिकल्पित पवित्रता के साथ समूह-कार्य, परस्पर सहयोग, सामाजिक परिपक्वता आदि की बातें कही जा सकेंगी।

कई संकेत बताते हैं कि युवा-वर्ग का विद्रोह अन्य क्षेत्रों की भांति शिक्षा में भी उस ओर जा रहा है जिसे नीत्शे ने 'मूल्यों का पुनरीक्षण' कहा था।[9] आज की नई युवा पीढ़ी विद्यालय में तथा कार्यशील जीवन में रूढ़िवादी स्तर की उपलब्धियों और सफलताओं को सर्वोच्च प्राथमिकता नहीं देना चाहती। स्पष्ट रूप से, इस प्रकार के पुनरीक्षण का छात्रों की उपलब्धि और उनके मूल्यांकन पर प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता।

इसलिए भविष्यशास्त्र का प्रधान कार्य ऐसी भविष्यवाणियों की साहसपूर्वक घोषणा करने का होगा कि आज की प्रचलित मूल्यगत प्राथमिकताओं का स्वरूप आगामी कुछ दशकों में क्या होगा। तब, क्या आवश्यक माना जायेगा और क्या अनावश्यक? कोई जी रहा होगा तो किसके लिए? हम सब स्वयं भी अनुभव करते हैं कि मूल्यों की ध्वनि थोड़े समय में ही किस प्रकार बदल जाया करती है। आधुनिक प्रौढ़ पीढ़ी के सामने अब से पहले परमाणु बम और विकासमान देशों से सम्बन्धित समस्याएँ नहीं थीं। पश्चिमी मानस इस प्रकार के आश्वासनों में अपेक्षाकृत सुस्थिर था कि पश्चिमी जीवन का ढंग श्रेष्ठ था, तथा उनकी तकनीकी सभ्यता अपराजेय थी। तकनीकी शास्त्र के बारे में कोई ऐसी बात नहीं थी कि वह कभी किसी प्रकार जीवन के लिए घातक भी हो सकता है। धारणा यह थी कि वह हमारे जीवन को धनी तथा अच्छा बनाने के लिए है तथा हमारे जीवन स्तर को ऊँचे से ऊँचा उठाने के लिए है।

कोई भावी मूल्यों की प्राथमिकताओं का पता लगाने के लिए किस प्रकार कार्य आरम्भ करता है, यहाँ उसकी विस्तृत रूपरेखा देना मुझे अभीष्ट नहीं है। यदि हम यह

विश्लेषण करें कि बीती हुई शताब्दी में सामाजिक तथा राजनीतिक मूल्यों के परिवर्तन किस प्रकार घटित हुए, तो हमें प्रायः उन विशेष संकेतों का पता भी लग जाएगा जो आज विद्यमान हैं और जो भावी परिवर्तन की आकांक्षाओं तथा मूल्यों के हेतुभूत होंगे। इस प्रकार का अध्ययन स्पष्ट करता है कि घटनाएँ लगातार अग्रगामी होती हैं और परम्परा के संरक्षकों के प्रतिकूल बहुत से प्रमुख लेखक अपने विचारों तथा अपनी प्रतिक्रियाओं में भावी समाज तथा उसके मूल्यों की पूर्व घोषणा कर चुकते हैं। ये संकेत जो भविष्य की रूपरेखा बतलाते हैं, लेखकों, कलाकारों, विचारकों और यहाँ तक कि मुखर युवा लोगों में भी पाए जाते हैं।[१०] ये युवा लोग कल के समाज का दायित्व ग्रहण करेंगे। जो महत्वपूर्ण प्रश्न वे उठाते हैं उनके अन्वेषण द्वारा हम उन बातों की विशद् जानकारी प्राप्त कर सकते हैं कि किन मूल्यों को उच्च प्राथमिकता देते हैं और अपने प्रौढ़ वर्षों में किन बातों को वे सर्वाधिक आवश्यक मानेंगे। स्वीडिश राष्ट्रीय शिक्षाबोर्ड ने हाल ही में एक अभिवृत्ति सर्वेक्षण का प्रकाशन किया है जिसका मुख्य उद्देश्य धार्मिक शिक्षा के लिए आधारभूत आँकड़े एकत्र करना था।[११] नवीं स्तर के तेरह सौ छात्रों को एक प्रश्नावली दी गई थी। पाया गया कि सोलह साल के छात्रों की रुचि के तत्त्वज्ञान व नीति संबंधी विषयों की सूची में वंश, जाति व मानवीय प्रतिष्ठा की समस्याएँ सर्वोपरि स्थान पर थीं। अमेरिकी अन्वेषकों ने, जो स्वयं को शैक्षिक नीति-निर्धारण की शोध के साथ सम्बन्धित करते हैं, कुछ अत्यन्त रोचक प्रयत्न किए हैं और पता लगाया है कि जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नों को क्रमशः मुखर तथा विचलान्तिक युवा पुरुष किस दृष्टि से देखते हैं।[१२] माध्यमिक विद्यालय के छात्रों के एक समूह को जिनको सब को 'भूमिगत' विद्यालय-समाचार-पत्र निकालने में लगाया गया था, एक विचार गोष्ठी में आमंत्रित किया गया जहाँ उन्होंने पुरानी पीढ़ी तथा समसामयिक समाज के सम्बन्ध में अपने स्वतंत्र विचार व्यक्त किये—तथा इस प्रकार के समाज का चित्र उपस्थित किया जैसा कि वे भविष्य में चाहेंगे। दूसरा अध्ययन सेन फ्रांसिसको के 'हिप्पियों' को लेकर किया गया। एक तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन २५ देशों को संयुक्त करके किया गया जो विश्वविद्यालयीय स्नातकों में निहित अभिवृत्तियों, उनके राजनैतिक विचारों तथा मूल्यगत अभिनवन की संधारणाओं की व्याख्या करता है।

जब माध्यमिक विद्यालय के युवा सम्पादकों के सम्मेलन में आयोजित विचारगोष्ठी की टेप की हुई कार्यवाही के विश्लेषण को मैंने पढ़ा तो मैं इस विचार से विलग न हो सका कि युवा लोग अब कम या अधिक रूप से सार्वभौमिक प्रतिक्रिया करते हुए दिखाई देते हैं। अन्ततः ये युवाजन भी व्यक्ति विशेष हैं जो वर्त्तमान दुनियाँ तथा उसकी समस्याओं का अधिक प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट रूप से अनुभव कर रहे हैं – टेलीविजन के माध्यम से भी जो कि उनकी पूर्ववर्ती पीढ़ी को प्राप्त नहीं था। भूतकाल में अनुभवों की सामान्य साझेदारी की जितनी सुविधाएँ थीं उनसे कहीं अधिक साझेदारी आज के नवयुवकों में पाई जाती है।

इन नवयुवकों के अनुसार विद्यालय विश्व में हो रहे महत्वपूर्ण घटनाओं और परिवर्तनों से अछूते हैं और वे संसार की अप्रिय वास्तविकताओं के विरुद्ध विद्यार्थियों की रक्षा करने में भी संलग्न हैं। वे अपने आप को विद्यालयीय विज्ञापन-संस्थान द्वारा प्रचारित और दिग्भ्रमित अनुभव करते हैं। उनमें से एक ने कहा कि "विद्यालयीय व्यवस्था एक दक्ष-कारखाना हो गयी है जिसमें हम 'कच्चे माल' की तरह हैं जो अंक-पद्धति के दबाव से स्वचालित यंत्रों के रूप में तथा व्यावसायिक जगत में विक्री योग्य (सर्वोच्च बोली लगने के लिए) समायोजित 'माल' के रूप में रूपान्तरित किए जाते हैं।" दूसरे विद्यार्थी ने कहा, "विद्यालय में जो कुछ मैं चाहता हूँ वह है विचार तथा भावनाओं के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान। निर्वैयक्तिक तथा तटस्थ 'बुद्धि वैभव' मैं नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ कि हमें उन लोगों से सम्बद्ध व्यवहार करने का अभ्यस्त बनाया जाए जो हमें वस्तुजगत की विश्वसनीयता की प्रतीति देना चाहते हैं।"

मैं इन दोनों उद्धरणों पर संक्षिप्त टिप्पणी करना चाहूंगा। मैंने इनका चयन अपने विशिष्ट विचारों की व्याख्या करने के लिए किया है। वह दिन दूर नहीं होगा जबकि हमें दृढ़ रूप से इस भ्रम का निवारण करना होगा कि पाठ्यपुस्तकें या अन्य शिक्षण-सामग्री सामान्य रूप से उद्देश्यनिष्ठ ज्ञान प्रस्तुत करने के प्रामाणिक साधन हैं।[१३] इस दिशा में किए गए प्रयत्न पुस्तकों को इतना अधिक नीरस तथा निर्वैयक्तिक बना देते हैं कि वे विद्यार्थियों को उत्प्रेरित कर पाने में अक्षम हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, पिछले दिनों स्वीडन में पाठ्यपुस्तक में निहित अप्रत्यक्ष मूल्यों के बारे में हुए वाद-विवाद ने हमें दर्शाया कि हमें कोई दूसरा मार्ग अपनाना चाहिए। सरल ढंग से कहें, तो इसका अर्थ यह है कि विद्यार्थियों को विद्यालय से बाहर व्यापक समाज में प्रचलित वाद-विवाद तथा विचारों और मूल्यों के परस्पर संघर्ष के सम्पर्क में रखना चाहिए। दूसरे शब्दों में, विद्यालय स्वयं व्यवस्थित ढंग से अपने विद्यार्थियों को इन स्थितियों में प्रस्तुत करें और उन्हें अपने ढंग से विचार-विमर्श करने के लिए प्रशिक्षित करें। अब हम एक ऐसे समाज में रह रहे होंगे जहाँ व्यक्त विचारों की अपेक्षा निहित भावनाएँ अधिक महत्वशाली हो रही होंगी।

भविष्यशास्त्र जो विकल्पाधीन विकासात्मक प्रवृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, इस महत्वपूर्ण प्रश्न से आक्रान्त है : बाह्याकलन के लिए कौन सी प्रवृत्तियाँ चुनी जायेंगी? इनमें से कुछ प्रवृत्तियाँ भावी प्राथमिकताओं के भविष्य निर्धारण की सम्बन्धित सामाजिक नीति से प्रभावित होंगी। कुछ दूसरी प्रवृत्तियाँ शायद अधिक सुस्थिर रहेंगी। इसलिए आवश्यक हो जाता है कि व्यक्तिशः या वर्गशः मान्यताओं के प्रावधान के लिए "वैकल्पिक भविष्यों" का रूपांकन किया जाए।[१४]

औद्योगिक देशों द्वारा प्रतिपादित समाज में कई प्रवृत्तियाँ भविष्य में पुनः प्रभावी बनेंगी । गणितीय ढंग से वे कैसे विकसित होंगी – रेखीय रूप में या घातीय रूप में– यह इस बात पर निर्भर करेगा कि भविष्य में मूल्यगत प्राथमिकताएँ क्या होंगी । हम तब तक समुचित भविष्य-विकल्पों पर विचार नहीं कर सकते जब तक कि दो आधारिक स्थितियाँ हमारे हाथ में न हों : (१) हम शिक्षा को समाकलित पद्धति की तरह मानते हैं जिसका अर्थ यह होता है कि हम रूढ़िवादी रूप से स्वयं को विद्यालयी प्रकार और उसकी उपपद्धतियों में प्रतिबंधित नहीं करते तथा (२) हम शैक्षिक पद्धति को उसके समसामयिक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सन्दर्भ में देखते – समझते हैं । इसका अर्थ यह होता है कि भविष्य-विकल्पों को हमें व्यापक परिप्रेक्ष्य में रूपांकित करने का प्रयत्न करना होगा ।[१५]

वे तत्त्व जो शैक्षिक पद्धति के तदर्थ लक्षण बतलाते हैं वे यहाँ अन्तर्जनित कहे गये हैं और वे तत्त्व जो सम्पूर्ण सामाजिक सन्दर्भ के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं, बहिर्जनित कहे गए हैं । तदनुसार विकल्पात्मक भविष्य के रूपांकन के लिए इन दोनों प्रकार की परिकल्पनाओं (न्यूनाधिक रूप से परस्पर सहसमृद्ध होकर) – एक ओर व्यापक समाज और दूसरी ओर शिक्षा-व्यवस्था का उपयोग होना चाहिए ।

१.३. समग्र समाज के सम्बन्ध में परिकल्पनाएँ :

(१) आर्थिक समृद्धि विविध क्षेत्रों में विवर्द्धमान उपभोग के अवसर प्रदान करेगी (उत्तम भौतिक स्तर, अधिक विश्राम, अधिक शिक्षा एवं उन्नत संस्कृति) ।

(२) कुछ विशेष क्षेत्रों में परिवर्तन की गति विशेषतः प्रकंपित रहेगी; जैसे, वस्तुओं के निर्माण तथा सेवाओं के प्रावधान के सम्बन्ध में ।

(३) व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान के अवसर-सुविस्तृत लोक संचार तथा यात्राओं के माध्यम से ।

(४) उत्पादन (वैज्ञानिक शोध) तथा वितरण (लोक संचार, कम्प्यूटर, तकनीकी) दोनों से समायोजित होते हुए, सूचनाओं की त्वरित व्यवस्था आवश्यक होगी ।

(५) जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में लाभकारी नियोजन क्रमागत रूप से अनावश्यक होने लगेगा । विकसित औद्योगिक देशों में वस्तुओं की बढ़ी हुई मात्रा तथा सेवाएँ जनसाधारण को प्राप्त होंगी ।

(६) विशेषज्ञों का प्रभाव बढ़ेगा तथा गुणात्मक मूल्यों की ओर रुझान बढ़ेगा ।

(७) जीवन के प्रति दृष्टिकोण और मूल्यों के सम्बन्ध में बहुलतावाद की वृद्धि होगी– कम से कम अन्तरिम काल में ।

(८) पारिस्थितिक व्यवस्थाओं एवं तकनीकी सन्तुलन बनाये रखना क्रमागत रूप से कठिन होगा (प्रकृति के अनाचार तथा उपद्रव के कारण) ।

ये परिकल्पनाएँ विभिन्न स्तरों की सम्भावनाएँ व्यक्त करती हैं । प्रथम चार परिकल्पनाएँ घनिष्ठ रूप से अन्तः सह-सम्बन्ध रखती जान पड़ती हैं तथा उनकी व्यंजना इतनी मुखर है कि उनको सर्वाधिक सम्भव मानना चाहिए । इसके विपरीत, अन्तिम चार परिकल्पनाएँ अधिक विवादास्पद हैं । इसका एक कारण यह है कि ये समसामयिक मूल्य अनुमानतः ज्यों के त्यों भविष्य में स्थानांतरित होंगे । जैसे–शिक्षा, सुदृढ़ स्तर वृद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्ति की निरन्तर साधन बनी रहेगी, या वे तकनीकी विकास जो आज अधिकतम लाभ के लिए बनाये जाते हैं, भविष्य के विनाश के मूल्य पर ही प्राप्त किए जायेंगे । मेरे विचार में, सबसे अधिक विवादास्पद परिकल्पना क्रमागत बहुलतावाद के बारे में है ।

१.४. शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में सामान्य परिकल्पनाएँ :

अब, भविष्य की शिक्षा पद्धति के बारे में हम क्या परिकल्पनाएँ कर सकते हैं ? विस्तार में जाने से पूर्व, मैं बतलाना चाहूंगा कि कल के 'जिज्ञासु-समाज' के लिए कौन सी महत्वपूर्ण परिस्थितियाँ होनी चाहिए जिनमें कि "व्यवस्थाबद्ध समाधान" का तैयार प्रावधान क्रमागत रूप से अधिक आवश्यक हो जायेगा और "अल्पकालिक अपूर्ण समाधान" भी आवश्यक हो जाएँगे ।[१६] "व्यवस्थाबद्ध समाधान" की अनिवार्यता सिद्ध करने वाली तीन विषम परिस्थितियाँ हैं : (१) प्रवेश की विस्फोटक स्थिति, पूर्णकालिक शिक्षा के लिए जा रहे अधिक से अधिक सहगणों (कोहोर्ट्स) का बढ़ता हुआ अनुपात (२) ज्ञान का विस्फोट; जो सूचनाओं की प्रक्रिया, संग्रह व संचार की समस्याओं का प्रवर्धन करता है । तथा (३) अध्ययन के वैयक्तीकरण की आवश्यकता जैसे – प्रत्येक व्यक्ति को उसकी गति-मति व योग्यता के अनुसार सीखने (गति, विशदता या गहनता के साथ) के योग्य वातावरण बनाना; संक्षेप में, ज्ञान व कौशल प्रदान करने की विधि में अधिक निर्दिष्टता लाना । हमारे विद्यालयों में शीघ्र ही वैयक्तीकरण एक अनिवार्यता हो जाएगी । अब, संभावित भावी शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में हम क्या विशेष परिकल्पना कर सकते हैं ?

(१) शिक्षा जीवन-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया होने जा रही है । युवाजनों से सम्बन्धित विद्यालय उन्हें ऐसा कुछ एक ही बार में नहीं दे पाएँगे कि उसके बल पर वह सदैव जीवन-यापन करते रह सकें ।

(२) भूतकाल के समान शिक्षा अब स्पष्टतया "अलगाव" के रूप में नहीं रह पाएगी । यानी, 'प्रवेश-परीक्षा' से आरम्भ करके नाटक की चरम सीमा की तरह अन्त करके जैसे कोई माध्यमिक परीक्षा या विश्वविद्यालयीय उपाधि प्राप्त करले और 'सर्वगुण सम्पन्न' बन जाए, ऐसी स्थिति नहीं रह पाएगी । अब यह निरंतर चलने वाली प्रक्रिया होगी जो समय की दृष्टि से जीवनव्यापी भी होगी और व्यावसायिक पहलुओं से सम्बन्धित भी होगी ।

(३) जैसे-जैसे शिक्षा अधिकाधिक व्यक्तियों के लिए सुलभ होगी, वह अधिकाधिक अनौपचारिक स्वभाव भी ग्रहण करेगी ।

"शिक्षण केन्द्रों" के अतिरिक्त शिक्षण की सुविधाएँ 'घर' पर तथा कार्य-स्थल पर भी उपलब्ध होंगी।

(४) परम्परागत विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा जैसे-जैसे अधिकाधिक व्यक्तियों को सुलभ होगी, वह अधिकाधिक सन्दर्भपूर्ण तथा अर्थपूर्ण होती जाएगी।

(५) क्रमागत रूप से, भावी शिक्षा पद्धति वृहत् सहायक संस्थाओं या संगठनों पर निर्भर रहेगी। इस प्रकार के एजेन्सियों के लिए चाहे वे सार्वजनिक हों या निजी हों, उन्हें शैक्षिक सहायक-सामग्री पद्धति, सूचना संचार पद्धति तथा बहुमाध्यमीय-अनुदेश सामग्री का उत्पादन करना आवश्यक हो जाएगा। सूचना संकलन तथा संचार सावधानी से परीक्षित और प्रमाणित संग्रहीत तत्वों से युक्त होगी। उस समय एक प्रमुख समस्या 'माध्यम' व 'प्राप्तकर्त्ता' के बीच अनुकूलता स्थापित करने की होगी। मेरे लिए तो १० वर्षों से भी पहले यह स्वयं प्रमाणित था कि भविष्य की बुनियादी शाला को कुछ बुनियादी अधिगम-कौशल सिखाने-समझाने पर एकाग्रचित होना होगा। उसे निर्दिष्ट कौशल व ज्ञान दो उद्देश्यों से प्रदान करना होगा : सामान्य नागरिकता के लिए प्रशिक्षित करना तथा किशोरों को निश्चित भावी व्यवसाय के लिए आवश्यक प्राथमिक प्रशिक्षण देना। इसके बाद, उसे किशोरों को परिवर्तनशील जीवन-वृत्ति के लिए तैयार करना होगा, उदाहरणार्थ, बुनियादी कौशल विकसित करने के साथ-साथ विविधतापूर्ण अभिवृत्तियों का विकास और उनके साथ ही शिक्षा के प्रति रुझान। इस चर्चा के प्रकाश में निम्नांकित प्रयोजन उभरते दिखाई देते हैं। इनमें से कुछ विवादास्पद हो सकते हैं क्योंकि उद्गम 'मूल्यों' से होता है जो स्वयं भी राजनैतिक निष्कर्षों से अभिन्न होते हैं।

(१) ज्ञान, कौशल तथा अभिवृत्तियों के लिए क्रमागत रूप से व्यापक सन्दर्भ निर्मित करना प्रजातंत्र में महत्वपूर्ण होता है। सूचना का उत्पादन तथा उपयोग अधिकाधिक विशेषीकृत होगा। इसकी परिणति विशेषज्ञों तथा प्रवीण व्यक्तियों के नेतृत्व में होगी और वह नेतृत्व स्वाभाविकतया ही औपचारिकता और पार्थक्य उत्पन्न करेगा। इसके साथ ही, वैज्ञानिक शोध तथा उच्च-स्तरीय शिक्षा जब समाज के लिए क्रमागत रूप से महत्वपूर्ण हो जाएँगी तब उनका गुणात्मक महत्व भी बढ़ जाएगा। हम गुणतंत्रवाद की ओर अग्रसर होते जान पड़ते हैं। अन्य बातों के साथ, सामान्य शिक्षा के ढाँचे का अर्थ होता है – एक सीमा तक सामान्य विद्यालयीय शिक्षा का प्रावधान तथा व्यवसायिक दृष्टि से अभिनवित विशेष शिक्षा जो कि सामान्य शिक्षा के उपरान्त दी जाती है। सामान्य शिक्षा में भाषायी कौशलों के विकास पर इतना अधिक बल देना चाहिए कि अधिकांश नागरिक एक से स्तर की भाषा बोलने के लिए सक्षम बनें ताकि वे एक-दूसरे को ठीक से समझने लगें।

(२) बुनियादी विद्यालय में शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जो स्वाध्याय तथा स्व-शिक्षण के लिए आधार भूमि का निर्माण करे। उदाहरणार्थ, ऊपर जिन योग्यताओं और कौशलों का उल्लेख किया गया है उनके ज्ञान की उपलब्धि तथा आत्मीकरण के लिए विकास करना।

(३) विद्यालय को परिवर्तनशीलता के प्रति ग्राह्यात्मकता उत्पन्न करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, सामान्य शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण दोनों की समानान्तर स्थिति ला पाने की अभिवृत्ति जाग्रत करनी चाहिए। उसे छात्रों में यह चेतना प्रस्फुटित करनी चाहिए कि सम्पूर्ण जीवन ही एक निरंतर तथा व्यापक विद्यालय होगा।

(४) विद्यालय को इस प्रकार के छात्र तैयार करने चाहिए जो विविध मूल्यों से युक्त समाज में जीना सीख सकें। अन्य बातों के साथ इसका तात्पर्य यह होता है कि छात्रों में ऐसी व्यक्तिगत योग्यताओं का विकास किया जाए कि वे बहुलतावादी समाज में से अधिकाधिक कसौटियों के आधार पर अपने मूल्यों का चुनाव कर सकें।

(५) यदि विश्व को जीवित रहना है तो अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा का विकास और आधुनिक शैक्षिक प्रान्तीयता का बहिष्कार आवश्यक हैं।

(६) सूचना के निरन्तर प्रवर्धमान प्रचण्ड धाराप्रवाह से समुचिततया निपटने के लिए विवेक तथा कौशल का विकास करना आवश्यक होगा, अन्यथा हम उस वेगवान प्रवाह में बह जाएँगे। इन कौशलों में कम्प्यूटरी भाषा और तकनीकी भी सम्मिलित होंगी।

(७) ऐसे जीवन के लिए विद्यालयी शिक्षा जिसमें लाभकारी नियोजन तथा मनोरंजन (पुराने अर्थ में) क्रमशः कम महत्वपूर्ण होंगे और 'काम' क्रमागत रूप से स्वानुभूति के लक्षण प्राप्त करेगा।

(८) विद्यालयीय शिक्षा पारिस्थितिक पद्धति तथा तकनीकी में सन्तुलन का अधिबोध बनाये रखने के लिए महत्वपूर्ण होगी, उन समस्त सूचनाओं की जटिलताओं को सन्निहित करते हुए जो ऐसी चीजों से सम्बन्धित हैं जैसे कि वायु, जल व मिट्टी का परिदूषण तथा प्राकृतिक साधनों का विवेकहीन दुरुपयोग।

(९) बिना किसी प्राथमिक संस्था जैसे परिवार की सहायता पर निर्भर रहे, एक स्वतंत्र तथा स्वायत्त व्यक्ति के रूप में जीने की योग्यता का शिक्षण।

जैसा कि मैं इसे देखता हूँ विद्यालय का एक निर्णायक पक्ष वह होगा जिसमें वह सामाजिक गतिशीलता के एक घटक की तरह काम करेगा। क्या वह (विद्यालय) 'प्रतिष्ठा' का निर्धारक बनेगा ? (जैसा कि हम उसे वर्त्तमान प्रवृत्तियों के आधार पर स्वीकार करते हैं।) क्या हमें अनुमान करना चाहिए कि हमारी शिक्षा पद्धति अपने विद्यालयीय रूप की उप-पद्धतियों के रूप में, इसी प्रकार से संस्थाबद्ध बनी रहेगी ? यदि ऐसा हो तो उसमें भी अधिकाधिक दफ्तरशाही की दृष्टिमति पनपेगी, और वह दफ्तरशाही उच्चतम

शिक्षा प्राप्त अधिकारियों द्वारा संचालित होगी।

१.५. शिक्षा के बारे में विशिष्ट मान्यताएँ :

(१) सामान्य शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा अधिक से अधिक अन्तर्ग्रंथित होंगी, क्योंकि यह अनुमान लगाना सम्भव नहीं होगा कि किस विशिष्ट व्यावसायिक योग्यता की आवश्यकता भविष्य में होगी। विरोधाभासी रूप में सामान्य शिक्षा (आधारिक योग्यता तथा कौशल बुनियादी कोष के रूप में) ही सर्वोत्कृष्ट व्यावसायिक शिक्षा भी होगी। बुनियादी विद्यालयी शिक्षा स्वाध्याय तथा स्व-शिक्षण की योग्यता की आधार-भूमि का निर्माण करेगी।

(२) बुनियादी विद्यालयों में शिक्षा, ज्ञान, कौशल तथा अभिवृत्तियों के विशदतम सामान्य ढांचे के विकास का लक्ष्य रखेगी ताकि विवर्धमान विशेष दक्षताओं के आगामी युग के साथ सानुकूलता की योग्यता उत्पन्न की जा सके।

(३) विविध कौशल (उन सब के उपरान्त कि जो ज्ञान के आत्मीकरण में मदद करते हैं) सूचनाओं के विशिष्ट तथा छिटपुट अंशों के संकलन की अपेक्षा श्रेष्ठतर स्थान प्राप्त करेंगे। शिक्षा के रूढ़िवादी विश्व-कोशीय आदर्श को बनाये रखना असम्भव हो जाएगा।

(४) शिक्षण अधिकाधिक वैयक्तिक होता जाएगा (उदाहरणार्थ, जैसे-जैसे अधिक उन्नत तकनीकी साधन काम में लाए जाएंगे)। तकनीकी साधन केवल एक निश्चित सीमा तक ही अध्यापक के स्थानापन्न बनेंगे, क्योंकि संशैक्षिकी क्रियाओं का केन्द्रीय तत्त्व शिक्षक तथा शिक्षार्थी का व्यक्तिगत सम्पर्क होगा। अध्यापक के कर्तव्य में योजना बनाना और विद्यार्थी की व्यक्तिगत प्रगति में सहायता तथा उसका मूल्यांकन करना आदि दायित्व सम्मिलित होंगे।

(५) विद्यालय की शैक्षिक भूमिका का (एक संस्था के रूप में) व्यापक महत्व संकुचित हो जाएगा क्योंकि अवकाश तथा विश्रामकाल की वृद्धि, परिवार एवं भिन्न समूहों के लिये अधिकतम प्रभाव के अवसर प्रस्तुत करेंगे। लोक-संचार का प्रभाव बढ़ेगा तथा टेलीविजन – विशेष तौर से संचारण काल तथा मार्ग संख्या में वृद्धि द्वारा – अपना प्रभावक्षेत्र बढ़ाएगा।

(६) औपचारिक विद्यालयीय शिक्षा अधिक व्यय-साध्य होती जाएगी। चूंकि अधिक से अधिक नवयुवक (और प्रौढ़) शिक्षा की ओर उन्मुख हो रहे हैं, और प्रति व्यक्ति वार्षिक व्यय समानान्तर रूप से बढ़ रहा है; इसलिए ऐसा लगता है कि अद्यतन उपलब्ध समस्त साधन इतने परिसीमित हो जाएँगे, कि उनके अधिकतम उपयोग के लिए कुछ अन्यान्य तर्क-सम्मत व्यवस्थाएं काम में लानी पड़ेंगी। उनका परिणाम यह भी हो सकता है कि एक संस्था के रूप में विद्यालय के बुनियादी पक्षों और उनसे सम्बन्धित धारणाओं को भी बदलने की आवश्यकता पड़े। इसका प्रभाव विद्यालय भवन के निर्माण-तंत्र पर भी तात्कालिक रूप से पड़ेगा क्योंकि इन भवनों का रूपांकन, भावी कई दशाब्दियों तक उनकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर, किया जाता है।

अब यह पूछा जा सकता है कि प्रत्येक ऐसी घटना जिसके घटित होने की पूर्ण सम्भावना है, क्या हमारी समस्त भविष्याशाओं और अनुसन्धान-प्रयत्नों के बावजूद विकास के सामान्य क्रम में घटित नहीं हो रही है? क्या भविष्यशास्त्र भविष्य के सृजन में मदद कर सकता है? ऐसा लगता है जैसे बहुत सारे तकनीशियन और राजनीतिज्ञ किसी दुर्निवार सिद्धान्त – आप मरे तो जग प्रलय – से अभिप्रेरित होकर व्यवहार कर रहे हों या तदनुकूल व्यवहार करने में असफल हो रहे हों। इस मनोवृत्ति को फ़ेजरवर्ग ने 'स्थिर मसीहापन' का नाम दिया है। और मुझे विश्वास है कि जब मैं यह कहता हूँ कि आज के मनुष्य का प्रामाणिक लक्षण उसकी यह बद्धमूल धारणा है कि वह अपने को अपने भविष्य का नियंता और निर्माता मानता है, तब मैं किसी अर्धसत्योन्मुख दर्शन का प्रतिपादन नहीं कर रहा हूँ। मानवता का परम्परित विकास क्रम अपने को अचिन्तित तथा नियतिबद्ध ऐतिहासिक प्रक्रिया से आवेष्टित पाता है और इस धरती पर अपने पूर्वजों के जीवन-क्रम, आदर्शों आदि को पुनरावृत्त तथा पुनरस्थापित करना अपना प्रमुख प्रयोजन मानता है। इसके बावजूद आज का मनुष्य इस आशावादी धारणा से अभिप्रेरित है कि "उसका भविष्य उसी के हाथ में है"।[१७] इन सबके बावजूद वह ऐसी आशा संजोए हुए चल रहा है कि अपने तथा अपनी सन्तान के भविष्य के "दृश्य-पट" वह स्वयं अपने हाथों से लिखेगा और सचमुच, वह यह आशा भी करता है कि वह अपने लिखे हुए दृश्य-पटों को अपने जीवन के रंगमंच पर चरितार्थ कर पाने में समर्थ भी हो सकेगा।

१.६. सन्दर्भ-सामग्री – [सन्दर्भ-सामग्री के लिए कृपया मूल अंग्रेजी प्रतिवेदन देखें।]

अनु. – **मोहनचन्द्र तेवाड़ी**

२

समसामयिक समाज और विद्यालय

२.१. भूमिका

महायुद्ध द्वारा किये गये विध्वंस के पुनर्निर्माण में यूरोप ने जब से अपने साधन जुटाने आरम्भ किये तब से आज तक की गत चौथाई शताब्दी द्रुत् परिवर्तन की अवधि रही है। अमेरिकी इतिहासकार आर्थर श्लेसिंगर जूनियर (१९७०) ने अपने एक ताजे निबन्ध में अपनी मान्यता व्यक्त की है कि इतिहास के किसी अन्य काल में इतने क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुए जितने उसमें जिसमें हम आज रह रहे हैं। तथाकथित शैक्षिक विस्फोट इस प्रक्रिया का केवल एक पक्ष है। १९४५ के आसपास स्वीडन में १५ वर्ष की आयु के १० बालकों में से एक तथा १८ वर्ष की आयु के २० में से एक ही पूर्णकालिक शिक्षा ग्रहण करता था। आज १६ वर्ष की आयु का प्रत्येक बालक विद्यालय में पढ़ता है तथा तीन-चौथाई किशोर उक्त आयु के बाद भी स्वेच्छा से शिक्षा ग्रहण करते रहते हैं। प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में हुई विस्फोटक वृद्धि के प्रति कम ही ध्यान आकर्षित हुआ है। स्वीडन में श्रमिक बाजार प्रशिक्षण (Labour market training) कार्यक्रम के अन्तर्गत पूर्णकालिक पुनर्प्रशिक्षण पाठ्यक्रम नेशनल लेबर मार्केट बोर्ड द्वारा संचालित किये जाते हैं। इन पाठ्यक्रमों को आरम्भ हुये मात्र दस वर्ष ही हुए हैं, किन्तु आज लगभग एक लाख व्यक्ति इनसे लाभ उठा रहे हैं। चार वर्ष पूर्व स्वीडन की संसद ने प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम-संचालन की व्यवस्था स्वायत्त-शासन को सौंप दी थी। उसमें आज नब्बे हजार व्यक्ति भाग ले रहे हैं। प्रौढ़ शिक्षा का स्वरूप यद्यपि आज भी उसी परम्परित जनशिक्षा के स्तर पर ही है जिसमें मुख्यतः अध्ययन-चक्र ही चला करते हैं, फिर भी लगभग पांच लाख व्यक्ति इन अध्ययन-चक्रों में भाग लेते हैं। इसके अलावा निजी उद्योगों द्वारा संचालित घर—बैठे प्रशिक्षण देने वाले विस्तृत कार्यक्रम भी प्रचलित हैं।

वर्त्तमान सामाजिक जीवन में शिक्षा स्वतः ही महत्वपूर्ण जीवन-सूत्र बनती जा रही है। वह आजीवन शिक्षा बनने की प्रक्रिया में है (ह्यूसेन, १९६९)। इस पृष्ठभूमि में स्वयं से यह प्रश्न करना तर्कसंगत ही है : क्या विद्यालय का संस्थागत स्वरूप बदल रहा है ? हीगल की शब्दावली में : संख्यात्मक वृद्धि क्या उस सीमा को पहुंच चुकी है जबकि मात्रात्मकता गुणात्मकता में रूपान्तरित हो जाती है ? परम्परा से हम शिक्षक लोग जो कल्पना करते आये हैं उसी के अनुसार क्या हम आशा करें कि ये विद्यालय २१वीं शताब्दी के दबाव को भी सह लेंगे या शैक्षिक विस्फोट के परिणामस्वरूप क्या सदियों से समादृत इन विद्यालयों के ढांचे बिखर जायेंगे ? इन प्रश्नों का उत्तर विद्यालय योजना में ही नहीं, शिक्षकों को दिये जाने वाले प्रशिक्षण में भी निहित है, जिसकी महत्ता पर यहां प्रकाश डालना शायद आवश्यक नहीं है। हम विद्यालय भवन बनाते हैं जिनकी भौतिक आयु ४०-५० वर्ष के लगभग होगी किन्तु अन्य व्यवस्था हम इस अन्दाज में अपनाते हैं मानों हम सर्वज्ञाता हों और जानते हों कि आगामी इतने ही वर्षों में इन दीवारों के घेरे में क्या घटित होने वाला है। हम यह भी मान कर चलते हैं कि जिन शिक्षकों को आज प्रशिक्षित किया जा रहा है वे सामान्यतः इन्हीं कक्षाओं के कमरों में कार्य करते रहेंगे जिनका हम आज निर्माण कर रहे हैं तथा जो उस तरह के हैं जैसे इनके शिक्षकों के समय में थे।

२.२. प्रवृत्तियां

गत दशकों में शैक्षिक क्षेत्र में जो कुछ घटित हुआ है – उसे ठीक से समझने को यदि कोई थोड़ा रुक जाय और वर्त्तमान परिस्थिति की मुखर प्रवृत्तियों को भी पहचानने का प्रयत्न करे तो इससे दृष्टि-विस्तार में तो सहायता मिलेगी ही, साथ ही विद्यालय किस दिशा में बढ़ रहे हैं इसका भी कुछ तात्कालिक उपयोग का उत्तर मिल जायेगा। अतः आगामी अधिकांश विवेचन में मैंने वर्त्तमान विद्यालय विकास के प्रमुख लक्षणों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इन प्रवृत्तियों पर बारह मुख्य बिन्दुओं के अन्तर्गत चर्चा की जायेगी :

(१) कहा जाता है कि शिक्षा की संख्यात्मक वृद्धि की प्रवृत्ति ऐसी रही है कि उसे व्यक्त करने के लिये एक नये पद 'शैक्षिक-विस्फोट' को गढ़ना जरूरी हो गया। अधिक से अधिक युवक अधिक लम्बी अवधि तक विद्यालयों में रुकने लगे हैं। यह विलक्षण तत्व दोनों ही–औद्योगीकृत और विकासशील–देशों में समान रूप से विद्यमान है। फिर भी, शैक्षिक व्यवस्था अधिक से अधिक प्रौढ़ों को आत्मसात् करने लगी है। तकनीकी-क्षेत्र में उन्नत राष्ट्रों में शिक्षा की प्रवृत्ति यह होती है कि वह जीवन-पद्धति का उत्तरोत्तर प्रमुख अंग बनती जाती है, वह जीवन-काल की न केवल अधिकांश अवधि तक ही सम्बद्ध होती है अपितु सम्पूर्ण जीवन-पर्यन्त व्याप्त रहती है। जिस व्यक्ति को ज्ञान एवं कुशलताओं की मूलभूत जानकारी (अधिक संकीर्ण व मात्र ऊपरी नहीं) पर अधिकार नहीं है वह आधुनिक औद्योगीकृत समाज में नहीं टिक सकता। कार्याधारित समाज की मांग के अनुरूप वांछित ज्ञान एवं कुशलताओं को तो वह और भी आत्मसात् कर पायेगा।

(२) १९६० के आरम्भ में अर्थशास्त्रियों ने कहा था कि शिक्षा (और अनुसंधान) आर्थिक प्रगति का प्रमुख निर्णायक तत्व है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में अपने पैरों पर खड़े होने के लिये मात्र शिक्षा में ही नहीं अपितु उच्च मानसिक क्षमता वाले प्रशिक्षण एवं अनुसंधान कार्यों में भी पूंजी लगानी होगी। अपनी विचारोत्तेजक पुस्तक 'अमेरिका की चुनौती' (The American Challenge) में जे. जे. सर्वन श्रेबर ने स्थापना की है कि अधिकांश यूरोपीय बाजार पर अमेरिका के छा जाने और बड़ी यूरोपीय कम्पनियों के समकक्ष विद्युत-संचार जैसे क्षेत्रों में स्वयं को स्थापित करने का रहस्य यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने यूरोप की तुलना में श्रेष्ठ कार्य यह किया है कि उसने मानव-सम्पत्ति में पूंजी को लगाया अर्थात् शिक्षा एवं विकास कार्यों को बढ़ावा दिया। शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका के प्रति चेतना और कालान्तर में शिक्षा के अधिकाधिक उपयोग से उत्पन्न जीवन स्तर में सुधार के प्रतिफलनस्वरूप जनता की पूंजी का उत्तरोत्तर वर्तमान अंश शिक्षा, शोध एवं विकास में लगाया गया। स्वीडन में आज कुल राष्ट्रीय उत्पादन का ८ प्रतिशत शिक्षा पर व्यय होता है जबकि आज से १५ वर्ष पूर्व मात्र ४ प्रतिशत ही व्यय किया जाता था।

(३) इस ओर ध्यान आकृष्ट किया गया कि निरन्तर अधिक जटिल बनते जा रहे समाज में जीवन-यापन करने की क्षमता के विकास की दृष्टि से शिक्षा एक महत्वपूर्ण निर्णायक तत्व बनता जा रहा है। व्यवसाय प्रतिष्ठा में सहायक अन्य निर्णायक बातों की तुलना में भी शिक्षा सफल जीवन एवं सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से अधिकाधिक आवश्यक बनती जा रही है। इस तथ्य को बढ़ा-चढ़ा कर यों भी कहा गया : सम-सामयिक समाज में जन्म एवं पैतृक सम्पत्ति का स्थान शिक्षित प्रतिभा ने ले लिया है। यदि माता-पिता सर्वाधिक सुरक्षित एवं मुद्रास्फीति के संकट से मुक्त कहीं पूंजी-नियोजन करना चाहते हैं तो वह अपने बालकों की शिक्षा में ही है।

यदि उक्त विचार युक्ति-संगत हैं तो एक प्रश्न उभरता है कि आज के समाज में प्रचलित विशेषज्ञता एवं योग्यता-तंत्र (मेरिटोक्रेसी) की प्रवृत्ति भविष्य में किस सीमा तक अपना विस्तार लेगी ? व्यक्ति की सफलता एवं सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रश्न से शिक्षा जितनी अधिक निर्णायक रूप से जुड़ती चली जायेगी, उतनी ही अधिक वह काम्य होगी (आप ध्यान दें, शिक्षा से यहां हमारा तात्पर्य व्यावसायिक स्तर की शिक्षा से है)। परिणाम यह होगा कि उच्चतर प्रशिक्षण देने वाली संस्थाओं में भी उपलब्ध स्थानों के लिए प्रतियोगिता बढ़ेगी। यह तथ्य है कि कई यूरोपीय देशों में माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा के अवसर सभी के लिये उपलब्ध हैं तथा निकट भविष्य में विश्व-विद्यालयी स्तर पर स्नातक-पूर्व शिक्षा के द्वार सभी के लिये खुल जायेंगे, किन्तु इससे हमें भ्रम नहीं हो जाना चाहिये कि हमने कोई ऐसी शैक्षिक पद्धति अपना ली है जिसमें प्रतियोगिता का तत्व समाप्त हो गया है। शिक्षा की जितनी ऊंची सीढ़ी पर जितने अधिक लोग पहुंचेंगे विद्यालय में प्रतियोगिता उतनी ही अधिक बढ़ेगी। तथापि, साथ ही इसका शिक्षा के निम्न स्तरों पर भी प्रभाव पड़ेगा और इससे वहां सच्ची प्रतियोगिता को बल मिलेगा। जापान का उदाहरण बड़ा ही मनोरंजक है। छठे दशक के मध्य जब आइ. ई. ए. प्रायोजना के अन्तर्गत जापान की शैक्षिक व्यवस्था की कोई १० यूरोपीय देशों व संयुक्त राज्य अमेरिका की शैक्षिक व्यवस्था से तुलना की गई तो हमने पाया कि किसी भी यूरोपीय देश की तुलना में जापान में १८ वर्ष तक की आयु के छात्रों को अधिक शैक्षिक अवसर उपलब्ध हैं (ह्यूसेन, १९६७)। जापान के १७-१८ वर्ष की आयु के आधे से अधिक छात्र पूर्णकालिक विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, जबकि अधिकांश पश्चिमी यूरोपीय देशों में १०-३० प्रतिशत छात्रों को ही यह सुविधा उपलब्ध थी। इससे यह निष्कर्ष निकलता हुआ प्रतीत हो सकता है कि जापान में अपनाई गई शिक्षा पद्धति में अधिक अंकों को प्राप्त करने हेतु एक दूसरे को गिराने की होड़ को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। किन्तु ऐसी धारणा बना लेना सत्य से बहुत परे की बात होगी। विश्वविद्यालयों में प्रवेश के लिये होने वाली भयंकर होड़ ने अभिभावकों को इस बात के लिये बाध्य या प्रोत्साहित किया कि वे अपने बालकों को 'ठीक' माध्यमिक विद्यालय में भरती कराने का प्रयत्न करें। धारणा यह है कि ऐसा करने से वे समादृत विश्वविद्यालय में प्रवेश का सही रास्ता पकड़ सकेंगे। किन्तु 'ठीक' माध्यमिक विद्यालय में प्रवेश का अर्थ है बालक को 'ठीक' प्राथमिक विद्यालय में अवश्य भरती कराया जाये और माना जाता है कि इसके लिये भी सही मार्ग 'ठीक' पूर्व प्राथमिक-विद्यालय से ही निकलता है।

यह सही है कि उक्त सम्पूर्ण क्रम अत्यधिक क्रमसंगत शब्दावली में व्यक्त किया गया है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को सही रूप से समझने

के लिये जापानी सांस्कृतिक स्वरूप की कुछ प्रमुख विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा जिनके विषय में यहां चर्चा करना अवान्तर है। जापान का उदाहरण तो इसलिये चुना गया कि इसमें योग्यता-तन्त्र की विशेषतायें अपनी चरम सीमा में विद्यमान हैं। योग्यता-तन्त्र न्यूनाधिक रूप से दोनों ही समाजवादी व पूंजीवादी देशों में विद्यमान है जहां प्रारम्भिक स्तर तक भी शैक्षिक अवसर उपलब्ध करा दिये गये हैं। एक अन्य उदाहरण सोवियत संघ का है जहां मस्क्वा विश्वविद्यालय (जिसके समादृत होने के कई अतिरिक्त कारण भी हैं) जैसी संस्थाओं में प्रवेश के लिये भयंकर होड़ मची रहती है क्योंकि यह समझा जाता है कि यहां से उपाधि प्राप्त करने पर जीवन व व्यवसाय में सफलता की गारंटी हो जाती है।

(४) अनुसंधान न केवल अति विशिष्ट ही हो गया है अपितु अन्य बातों के साथ-साथ लिखित ज्ञान का ढेर भी भयानक रूप से फट पड़ा है। वैज्ञानिक निबन्ध एवं पुस्तकों की संख्या में वृद्धि की वर्त्तमान दर इतनी तीव्र है कि दस वर्ष से कम की अवधि में ही वे दूनी हो जाती हैं। मुख्यतः प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में विस्तृत उपयोगों की दृष्टि से किया गया शोध-कार्य तो विशाल पैमाने पर "ज्ञान-उद्योग" के रूप में परिणत हो गया है जिसमें अनाप-शनाप पैसा खर्च होता है और जिनसे बड़े-बड़े निहित स्वार्थों की पूर्ति होती है (मेकलप, १९६२)। किसी मठ के प्रकोष्ठ या संगमरमरी मीनार में बैठकर विद्वत्ता की प्राप्ति के लिये असीम कष्ट झेलना, नये सत्योद्घाटन के लिये दस्तावेजों को सूक्ष्म या संकीर्ण दृष्टि से पढ़ना या चुनौती का जवाब देने के लिये रात्रिकालीन प्रयोग करना जैसे शोध प्रयत्न आज की परिस्थिति में कहीं अधिक अपर्याप्त हैं। यद्यपि यह सही है कि वैज्ञानिक नवान्वेषण कार्य में व्यक्तिगत स्तर पर अपनी ही तरह कार्य करने और कष्ट भोगने का स्थान सदा महत्वपूर्ण बना रहेगा। विशेषज्ञता और समाजगत स्वरूप-परिवर्तन की प्रक्रिया में शोध की निरन्तर बढ़ती हुई प्रमुख भूमिका के परिणामस्वरूप औसत व्यक्ति के लिये यह समझ पाना निरन्तर कठिन होता जा रहा है कि विशेषज्ञ (दोनों ही प्रकार के : जो जानकारी या ज्ञान उत्पादित करते हैं और जो उसको व्यवहृत करने में विशेषज्ञता प्राप्त करते हैं) वस्तुतः करना क्या चाहते हैं तथा जो वे कर रहे हैं उसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा? आज व्यक्ति के मन में बेचैनी की यह भावना निरन्तर बढ़ती जा रही है कि उसका भाग्य तकनीकशाहों (टेकनोक्रेट) के हाथों में झूल रहा है।

(५) १९वीं शताब्दी के मध्य में स्कैंडिनेविया तथा पश्चिमी यूरोप के अधिकांश भाग में जिस सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था को अनिवार्य किया गया था उसके अन्तर्गत अधिक से अधिक किशोरावस्था समाप्ति तक ही शिक्षा देने की व्यवस्था थी। अभी १९३० तक की ही तो बात है, विश्व के इस भूभाग के युवकों का विशाल बहुतांश १३–१४ वर्ष की आयु में ही श्रमिक व्यवसाय में प्रविष्ट हो गया था। आज प्रत्येक व्यक्ति किशोरावस्था की अधिकांश

अवधि में पूर्णकालिक शिक्षा प्राप्त करता है। केवल यह एक तथ्य ही पर्याप्त है यह जताने के लिये कि इस आयु-वर्ग की समाजगत भूमिका में कोई क्रान्ति जैसी बात निहित है। इन वर्षों में शारीरिक स्तर पर हो रहे परिवर्तनों के अनुरूप किशोर प्रौढ़ भूमिका निर्वहन सम्बन्धी आवश्यक कार्य करने के बजाय, विद्यालयों में पढ़ रहे इन किशोरों को बालक समझ कर वैसा ही उनसे व्यवहार किया जाता है। औद्योगिकीकरण के बाद के समाज में, शारीरिक तरुणाई के पश्चात् सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तरुणाई की एक लम्बी अवधि होती है, एक ऐसी लम्बी अवधि जिसमें परिपक्वता प्राप्त होती है और जिसमें तैयारी की जाती है समाज में एक ऐसी प्रौढ़ भूमिका निभाने की जो उस भूमिका से कहीं अधिक जटिल है जो विगत वर्षों के कृषि एवं शिल्प समाज में व्याप्त मात्र जिन्दा भर रहने लायक आर्थिक व्यवस्था में निभानी पड़ती थी और जहां परिवार ही मुख्य शिक्षण संस्था हुआ करती थी।

जो भी हो, यह समस्या इस तथ्य के कारण और भी विकट हो गई है कि इस शताब्दी के आरम्भ के समय के किशोर की तुलना में आज का किशोर दो वर्ष पूर्व ही शरीर से तरुण हो जाता है (टेनर, १९६१)। दूसरे शब्दों में, आज का किशोर उन सभी वर्षों में विद्यालय में पढ़ता रहता है जिन वर्षों में शताब्दी के आरम्भ में उसका समवयस्क विद्यालय चारदिवारी के बाहर प्रौढ़ भूमिका निर्वहन करना सीखने में व्यस्त रहता था। शिक्षकों एवं शिक्षाशास्त्रियों के समक्ष समस्या के विकट होने का यही कारण है। यदि हम लौकिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो ये समस्यायें इतनी नवीन हैं कि इस विस्तार को भी अभी समझ पाना बाकी है। और अधिक निश्चयात्मक रूप से कहें तो तथ्य यह है कि प्राचीन समाज में भी बालक २० वर्ष की आयु और उसके बाद तक भी विद्यालयों में पढ़ते रहते थे। किन्तु वे बहुत कम होते थे। सुविधा-सम्पन्न सामाजिक कुलीन होते थे जो शैक्षिकमानसिकता सम्पन्न वातावरण से आते थे। वे एक ऐसे समाज के सदस्य होते थे जहां शिक्षा सामाजिक प्रतिष्ठा का अभिन्न अंग माना जाता था। आज तो शिक्षा का व्यवसाय-व्यक्तित्व-निर्माण में महत्व माना जाता है, किन्तु उस समय तो यह भी नहीं माना जाता था।

आज और कल के समाज में किशोर विद्यालयों में शिक्षा सम्बन्धी जो समस्यायें प्रमुख रूप से सामने आयेंगी उन्हें दो शब्दों में समाहित किया जा सकता है : संयुक्तता (पार्टिसिपेशन) और सार्थकता (रेलिवेंस)। वास्तविक संकट हमारे सामने है। आज युवकों को हम जिस आयु में विद्यालय के बाहर निकालते हैं उससे पहले उन्हें विद्यालय छुड़ा देने पर उन्हें प्रौढ़ भूमिका में नहीं उतारा जा सकता। क्योंकि श्रम बाजार उस जनबल को नहीं खपा सकता जिसने अपेक्षाकृत विस्तृत सामान्य शिक्षा ग्रहण नहीं की है और साथ ही व्यावसायिक प्रशिक्षण की आरम्भिक जानकारी भी प्राप्त नहीं की है। जो भी हो, किशोरों के निमित्त विद्यालयों को अधिक सार्थक तथा भाग लेने योग्य

बनाने की दृष्टि से आवश्यक है कि ऐसे कार्य अभ्यास कराये जाएं जो सामान्यतया वृहत्तर समाज और विशिष्टतया श्रम समाज में उपलब्ध होते हों। किशोरों को अपना सम्पूर्ण अध्ययनकाल कक्षाओं में व्यतीत करने के बजाय इस पर विचार किया जाय कि विद्यालय चारदिवारी में विताये गये समय को प्रशिक्षण अनुभव प्राप्ति हेतु बाहर व्यतीत किये गये समय से किस प्रकार सम्बन्धित किया जा सकता है।

(६) विद्यालय में बालकों के अतिरिक्त-वर्ष पढ़ते रहने का परिणाम यह हुआ है कि विद्यालयों के कर्त्तव्य क्षेत्र में भी वृद्धि हुई है। ये कर्त्तव्य पूर्णरूपेण शैक्षिक भी नहीं रह गये हैं। अपितु इनकी प्रकृति सामाजिक एवं संरक्षण से सम्बन्धित है। परिवार के शिक्षण-संस्था के रूप में महत्व की कमी के कारण विद्यालय को अधिकाधिक आगे आना पड़ रहा है। अनिवार्य पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की मांग जब उठाई जाती है तो उसके पीछे मात्र शैक्षिक उद्देश्य ही नहीं होता अपितु सामाजिक उद्देश्य भी होता है अर्थात् विभिन्न सामाजिक श्रेणियों से आने वाले छात्रों को समान स्तर पर लाना। लोग यह भी चाहते हैं कि विद्यालय बच्चे बहलाने वाली धाय की तरह काम करें। आज जबकि अधिकांश बालक छः वर्ष की बजाय १० से १२ वर्ष की शिक्षा विद्यालय में ग्रहण करते हैं तो ऐसी स्थिति में विद्यालय के समक्ष मुख्य चुनौती यह है कि वह कितनी योग्यतापूर्वक अधिकाधिक ज्ञान एवं कुशलतायें सिखाये। जो भी हो, गत दो दशकों में सर्वाधिक अधिकृत पाठ्यक्रम का जो स्वरूप उभरा है उसमें विद्यालय के समाजीकरण मिशन पर बल दिया गया है। स्वीडन के बुनियादी विद्यालयों में अपनायी जा रही नवीन शिक्षण योजना की शब्दावली को उद्धृत करें तो व्यक्तित्व विकास मिशन पर बल दिया गया है। यदि हम यह जानना चाहते हैं कि क्या विद्यालय वास्तव में उतने सक्षम हैं जितनी पाठ्यक्रम के लक्ष्यों के अन्तर्गत उनसे अपेक्षा की जाती है तो विद्यालयों से ये जो बढ़ी हुई अपेक्षायें हैं उन्हें निम्नलिखित विभिन्न परिस्थितियों से सम्बद्ध कर देखा जाना चाहिये तथा उन पर विचार किया जाना चाहिये।

(७) बीते कल के स्थिर कृषि एवं शिल्प समाज में पालन-पोषण का स्थान घर ही था। विश्व के हमारे इस भाग में जब एक शताब्दी से भी अधिक पहले अनिवार्य शिक्षा आरम्भ की गई तब उसका मुख्य कर्त्तव्य पढ़ना, लिखना और गणित सिखाना तथा नैतिक आचरण के सामान्य सिद्धान्तों की जानकारी देना भर था। नैतिक आचरण सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तों की जानकारी बाइबिल के अंशों को पढ़ाकर दी जाती थी। विद्यालय एक से मूल्यों के वातावरण में कार्य करते थे अर्थात् घर और विद्यालय एक दूसरे के प्रभाव को पुष्ट करते थे।

गत कुछ दशकों में इतिहास की गति ने परिवार के संस्थागत महत्व को न केवल समाप्त ही कर दिया है और विद्यालय का मौलिक प्रभाव ही बढ़ाया है, बल्कि प्रभाव एवं प्रोत्साहन के नये स्रोत भी उपलब्ध कराये हैं, जैसे—जन-संचारके साधन और स्वयं युवकों द्वारा निर्मित समूह अर्थात् समवयस्कों के समूह। इन समूहों को विभिन्न नामों से अलंकृत भी किया गया है, जैसे—'किशोर समाज'। जन-संचार के साधनों का यहां तात्पर्य मुख्यत: रेडियो एवं दूरदर्शन से है। इनसे मनुष्य के अनुभव का क्षेत्र बढ़ा है: जो पहिले घर की चहारदीवारी और गृह-नगर तक ही सीमित था वह अब सारे संसार में प्रसारित हो जाता है। यह दूरदर्शन की विलक्षण योग्यता के कारण ही है कि घटित होने वाली घटनाओं के वास्तविक प्रभावों (चाहे वे झलक मात्र पर ही आधारित क्यों न हों) तथा तृतीय विश्व की यातनाओं को प्रसारित कर दिया जाता है। परिणामत: पूर्व पीढ़ी के युवकों से सर्वथा भिन्न आज के युवक विश्वव्यापी विचार लेकर जीते हैं। आज का युवक प्रतिक्षण कैथोड रश्मि की ट्यूब के प्रभाव का जितना शिकार है उतना ही वह उसके सामने कक्षा में खड़ा होकर पढ़ाने वाले अध्यापक के उपदेशों का शिकार है।

आज का युवक नगरीय विश्व में रहता है जिसमें समूह जीवन पर अधिक बल है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रौढ़ों के साथ उसके संबंध घनिष्ठ हैं। वस्तुत: यह कहना ज्यादा सत्य होगा कि विशाल नगरों में रहने वाले युवक एवं बालकों के प्रौढ़ों के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध पहले के समाज में व्याप्त संबंधों की तुलना में कम हैं। आज जो पल रहे हैं वे पीढ़ियों के अन्तर से ग्रस्त विश्व में रह रहे हैं जिसमें दोनों ओर के लोग अपने ही कामों में व्यस्त रहते हैं। युवकों की प्रवृत्ति होती है कि वे अपना भावात्मक आधार उन समूहों में ढूंढ लेते हैं जो उन जैसे ही और समान स्थितियों में रहने वाले लोगों से स्वत: निर्मित हो जाते हैं अर्थात् उनकी प्रौढ़ समाज के बाहर ही रहने की प्रवृत्ति होती है; अनिच्छापूर्वक वे शिक्षा या उपदेशों की बौछार ग्रहण करते हैं और जो लोग आगे बढ़ते हैं उनके मार्ग में वे रोड़े बनते हैं। किशोर संस्कृति के संबंध में बार-बार किये गये शोध कार्यों से पता चलता है कि युवक-समूह आदर्शों के निर्माण में अधिक नहीं तो उतने ही शक्तिशाली होते हैं जितने अभिभावकों के समूह (कोलमन, १९६१; एण्डरसन, १९६६)। इस दृष्टि से विद्यालय एवं उसके अध्यापकों को निकृष्टतम ही हाथ लगता है। इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि विद्यालयों के वर्त्तमान ढांचे एवं कार्य अभ्यास, जो आज उनको करने होते हैं, की स्थिति में भी विद्यालय से अपेक्षा की जाती है कि वह व्यक्तित्व विकास करने वाली संस्था के रूप में कार्य करे।

(८) इस प्रकार बालक के विकास का दायित्व घर का काम और विद्यालय, जन संचार तथा समवयस्क समूहों का अधिक हो गया है। यह भी समझ लेना चाहिये कि यह मान्यता विद्यालयी आयु से ही संबंधित है न कि पूर्व विद्यालयी आयु से। गत वर्षों में किये गये कई शोध कार्यों ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि विद्यालय में सफलता प्राप्त करने के लिये विद्यालय-

पूर्व गृह-वातावरण बहुत महत्वपूर्ण है। ग्रेट ब्रिटेन में प्लाउडन कमेटी (१९६७) द्वारा की गयी कई जांचों में से एक का उद्देश्य यह ज्ञात करना था कि ११ वर्ष की आयु (माध्यमिक विद्यालय में प्रवेशारंभ की आयु) की विभिन्न शैक्षिक उपलब्धियों में घर और विद्यालय का कितना हाथ रहा है। निष्कर्ष यह निकला कि विद्यालय की तुलना में घर ने तिगुना हाथ बंटाया है। चार वर्ष तक माध्यमिक शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त उन्हीं छात्रों की संप्राप्ति जांच हाल ही में ली गई ताकि यह निश्चित हो सके कि इन वर्षों में हुई ज्ञान की वृद्धि में घर के वातावरण एवं विद्यालय की स्थितियों का कितना हाथ है। इसका विश्लेषण पूर्व में प्राप्त परिणामों की पुष्टि करता है (पीकर, १९७१)। घर की तुलना में विद्यालय का प्रभाव सामान्य होता है। गणित संबंधी अंतर्राष्ट्रीय अनुसंधान प्रायोजना (ह्यूसैन, १९६७) के एक अंग के रूप में हमने छात्रों की उपलब्धियों को, उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि (सामाजिक स्तर तथा अभिभावकों की शिक्षा) से तथा लगभग ३० शैक्षिक विभिन्न प्रत्ययों यथा – शिक्षकों की क्षमता, विषय संबंधी शिक्षण सामग्री की मात्रा, गृहकार्य आदि से भी (छात्रों की उपलब्धियों को), संबद्ध करके देखा। प्रायोजना में जिन १२ विद्यालयी व्यवस्थाओं को शामिल किया गया था सभी से वैसे ही समान निष्कर्ष निकले, जैसे ब्रिटेन के लिये प्लाउडन कमेटी और संयुक्त राज्य अमेरिका के लिये कोलमन रिपोर्ट (कोलमन, १९६६) के थे।

शिकागो विश्वविद्यालय के पूर्व में किये गये शोधकार्यों का प्रोफेसर बेनजामिन ब्लूम (ब्लूम, १९६४) ने पुनर्विश्लेषण किया है, जिसके अनुसार १८ वर्ष की आयु में बौद्धिक क्षमता में दो-तिहाई व्यक्तिगत अन्तर तो ऐसे ही थे कि जिन्हें ६ वर्ष की आयु में जब छात्रों ने विद्यालय में प्रवेश किया था तभी पता लगाया जा सकता था। तात्पर्य यह है कि बौद्धिक अन्तर का अधिकांश उस समय ही मौजूद होता है जब छात्र विद्यालय में सर्वप्रथम प्रवेश लेता है। बौद्धिक अन्तर वंशानुक्रम अथवा वातावरण के कारण हैं, इसकी चिन्ता किये बिना ही ब्लूम के दो शिष्यों वूल्फ (१९६४) और दवे (१९६३) ने सिद्ध किया है कि माता-पिता का अपने बालकों का ध्यान रखना, उन्हें सीखने के लिये प्रोत्साहित करना, सीखने में कुशलता अर्जित करने हेतु उन्हें प्रशिक्षित करना, और विद्यालय में प्रयुक्त होने वाली उपयोगी शब्दावली की जानकारी देना आदि, सर्वथा मनोवैज्ञानिक बातों पर ही ध्यान दिया जाय तो घर के वातावरण और छात्र ने विद्यालय में जो उपलब्धि की है उसमें बहुत उच्चकोटि के सह-सम्बन्ध मालूम किये जा सकते हैं। इन सब को देखने से लगता है कि 'सामाजिक वंश-परम्परा से प्राप्त' अन्तर को कम करने के लिये और शिक्षा के समान अवसर उत्पन्न करने की स्थिति में भावी पूर्व-प्राथमिक विद्यालय निर्णायक संस्था के रूप में महत्व-पूर्ण होंगे (जोनस्सन, १९६९)।

९. अभी तक विद्यालय एक निश्चित आयु वर्ग तक ही शिक्षा देते रहे हैं तथा विद्यालयों की उपस्थिति अनिवार्य रही है। वे चारों ओर के समाज से भी पृथक ही रहते हैं। काम की दुनिया से तो उनका कोई वास्ता ही नहीं रहता। आश्चर्य की बात है कि १९५० तक व्यवसायी समाज, मजदूर संघ तथा नियोजन संस्थाएं विद्यालय से संबंधित कार्यों पर कोई ध्यान ही नहीं देती थीं। विद्यालय इस सिद्धान्त पर चलाये जाते रहे हैं कि विद्यालय में व्यतीत किया गया समय जीवन का आरम्भ है जहां वह सब सिखाया जाता है जो प्रौढ़ के लिये जानना आवश्यक है। अर्थात् यह माना जाता है कि व्यक्ति विद्यालय में उतना ज्ञान और उन कुशलताओं को प्राप्त करले कि जो उसे जीवन भर काम देती रहें। आज के द्रुत परिवर्तनशील तकनीकी समाज में यह सिद्धान्त सर्वथा बेमानी है क्योंकि संभावित तो यह है कि किसी भी जानकारी का एक अंश, चाहे वह व्यवसायिक क्षेत्र से ही सम्बद्ध क्यों न हो, बहुत शीघ्र ही अनुपयोगी नहीं हो जायेगा, क्योंकि व्यक्ति को हर क्षण सीखते रहना होगा और शायद उसने जो सीखा है उसे ज्ञान-उद्योग एवं तकनीक में हुए परिवर्तनों के साथ चलते रहने की दृष्टि से अनसीखा भी करना पड़ेगा। इसका उपनिष्कर्ष यह है कि स्वयं शिक्षा के लक्ष्यों को बदलना होगा तथा किसी निश्चित ज्ञान को आत्मसात कराने की बजाय कुशल-ताओं के सिखाने पर अधिक बल देना होगा। कुशलतायें भी वे होंगी जिनके उपयोग का क्षेत्र विस्तृत होगा। ऐसी कुशलताओं की सूची में पहली कुशलता होगी अपने आप सीखते चले जाने की योग्यता।

१०. चाहे हम संगणकों (कम्प्यूटरों) को शामिल न करें, पर एक सामान्य रेडियो, दूरदर्शन, टेपरिकार्डर आदि से सबंधित वर्तमान तकनीकी ने शिक्षण सहायक सामग्री के रूप में नये आयाम प्रस्तुत किये हैं। जो व्यक्ति अपने में ही छोटा-मोटा इंजीनियर नहीं है वह शायद ही इन नये सहायक उपकरणों का महत्व आंक सके। यह समझने के लिये बहुत अधिक दिमाग खपाने की आवश्यकता नहीं है कि ये यन्त्र अध्यापक की भूमिका पर भीषण प्रभाव डालने वाले हैं।

यह प्रक्रिया चालू हो चुकी है। यदि मुझसे इन सब बातों को एक वाक्य में व्यक्त करने के लिये कहा जाय तो वह इस प्रकार होगा कि अध्यापक अब ज्ञान का संदेशवाहक और सूत्रधार कम बल्कि एक ऐसा व्यक्ति अधिक बनता जा रहा है जो प्रत्येक बालक के लिये सीखने की योजना बनाता है। विद्यालयों में कर्मचारियों पर किये जाने वाले व्यय में अध्या-पकों का वेतन व्यय सर्वाधिक होता है और विद्यालय बजट और व्यय का यह बहुत बड़ा हिस्सा होता है अत: मितव्ययता की दृष्टि से यदि कमी की जायेगी तो वह इसी मद में होगी। स्वीडन में और ऐसे ही अन्य समान देशों में प्रति छात्र व्यय में बढ़ोतरी उतनी ही तेजी से हुई है जितनी चिकित्सालय में प्रति मरीज व्यय में हुई है (कूम्स, १९६८)। ऐसी स्थिति में जबकि अधिकाधिक लोगों को अधिक लम्बी अवधि तक शिक्षित किया जाना है, एक संभावित परिणाम यह हो सकता है कि कर्मचारियों पर होने वाले व्यय को कम कर अर्थ व्यय कम किया जाय। जहां तक

किशोर विद्यालयों का संबंध है इस प्रकार के उपाय अपनाकर अध्यापक छात्र–अनुपात में शायद ही कोई परिवर्तन किया जा सके; क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि अध्यापक छात्रों को व्यक्तिगत स्तर और छोटे समूहों में मार्गदर्शन करने और सम्पर्क बनाये रखने संबंधी जो मुख्य शैक्षिक कार्य हैं उनमें बाधायें उत्पन्न होंगी। विद्यालय कोई कारखाने नहीं हैं। इस बात को भी विशेष बलपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि अध्यापकों का स्थान मशीनें ले लेंगी (किन्हीं अपवाद-पूर्ण मामलों में यदि इसे उचित भी माना जाये तो स्थितियां असामान्य ही मानी जायेंगी)। 'दक्षतायें' जो वांछित हैं उन्हें अन्य उपायों से प्राप्त किया जा सकता है। माध्यमिक विद्यालयों में अध्यापक के सीधे निर्देशन में चलने वाले कार्य-कालांशों की संख्या कम करने की दृष्टि से संबंधित एक मामले पर यहां विचार किया जा सकता है। अधिगम या सीखने के लिये अध्यापक की शारीरिक उपस्थिति और सक्रिय योग आवश्यक हैं। ऐसे परम्परित कक्षा पाठों के प्रकार के कार्य में लगने वाले ३०-३५ घंटों की संख्या को घटाकर २० घंटे किया जा सकता है। परिणामतः छात्रों के स्वतन्त्र रूप से सीखने की अवधि बढ़ेगी। वस्तुतः सीखना अपने मूल रूप में स्व-क्रिया ही है। किन्तु उस क्रिया को विकसित करने की दृष्टि से अध्यापक का इस स्थिति में होना जरूरी है कि वह स्वाध्याय या अधिगम की योजना बनाने और प्रत्येक बालक के लिये उपयुक्त सामग्री निर्मित करने में पर्याप्त समय लगा सके।

(११) शैक्षिक पद्धति के विस्तार का संबंध उसके संगठन संबंधी ढांचे से भी है। शिक्षा कार्य अपेक्षाकृत बड़ी होती जा रही प्रशासनिक इकाइयों के अन्तर्गत सम्पन्न हो रहा है। इसके पीछे व्यापक विश्वास यह है कि इस क्षेत्र में अपनायी जा रही नीति ठीक है। गत कुछ दशकों में कई देशों में केंद्रीय, क्षेत्रीय एवं स्थानीय विद्यालय स्तर पर नौकरशाही के पनपने की प्रवृत्ति परिलक्षित हुई है। निर्णयकर्त्ताओं की कतार सीढ़ी दर सीढ़ी ऊंची होती गई है – उच्चतम सीढ़ी पर अधिक शक्ति केन्द्रित होती जा रही है और कार्य सम्पादन में अधिक समय लगने वाले तरीकों को अपनाया जा रहा है। जो हुआ है उसे स्पष्ट करने के लिये मैं एक छोटी विचित्र पुरानी कहानी सुनाऊंगा। एक बार १९४० में एक भूतपूर्व शिक्षाधिकारी हेचलमरवर्ग से मैंने साक्षात्कार किया। उनकी आयु ८५ वर्ष थी। वे फ़िद्जुवर्ग के भाई थे। मैं उन पर एक पुस्तक लिख रहा था। नव-गठित राष्ट्रीय शिक्षा बोर्ड में उच्च पदासीन अधिकारियों में से ह्येलमरवर्ग एक थे। उन्होंने बताया कि वसन्त आरम्भ होने के समय से, वे प्रतिदिन पोस्टमैन की प्रतीक्षा में खिड़की से बाहर सड़क के पार उस मकान को देखते रहते थे जिसमें बोर्ड कार्यालय था। पोस्टमैन जो थैला बाहर निकालता था वह कम मोटा दिखाई देता तो सारा काम दोपहर के खाने तक समाप्त होने की संभावनायें बन जाती थीं। ऐसी स्थिति में वे अपने दोपहर का खाना डीयर पार्क में ले सकते थे और जब दिन भर का काम अच्छी तरह समाप्त हो गया है तो संध्या समय स्वतंत्रतापूर्वक व्यतीत किया जा सकता है।

विपरीत आश्वासनों के बावजूद भी हमें भूलना नहीं चाहिये कि केन्द्रीयकरण की वृद्धि ऐसा एक तथ्य है जो विद्यालय-प्रशासन में भी पैदा हो सकता है। जितनी पद शृंखलायें बढ़ेंगी तथा निर्णयकर्त्ताओं और कक्षाओं के बीच जितने कम सीधे संबंध होंगे उतना ही अधिक औपचारिकता को बढ़ावा मिलेगा और शृंखलाओं में बंधा हुआ जितना भी कार्य सम्पादन होगा उसमें उतनी ही मात्रा में तत्व की बात कम संप्रेषित होगी।

कुछ दशकों में ही सामान्य विद्यालयों का आकार दुगुना हो गया है। कम से कम स्वीडन में तो यही स्थिति है। ग्राम्य क्षेत्रों में निर्मित छोटे बाल विद्यालय भवन तीव्र-विलय-प्रक्रिया के अंग के रूप में एक-एक कर अदृश्य होते चले गये हैं। शहरों में भी अब अपेक्षाकृत बड़े विद्यालय ही विकल्पित किये जाते हैं। नौकरशाही एवं विशाल इकाइयों के आगमनस्वरूप ऐसी समस्यायें उत्पन्न हुई हैं जो कार्य संसार की समस्याओं के समान हैं अर्थात् औपचारिकता, नीचे के सिपाही और निर्णयकर्त्ता के बीच व्यक्तिगत संबंधों का अभाव। यही विद्यालयों में भी हुआ है: अध्यापक एवं छात्र उच्चाधिकारियों से कट गये हैं। जो नींव का काम करते हैं वे बहुधा जो अनुभव करते हैं उसे व्यक्ति-सम्पर्क-अभाव की संज्ञा दी जा सकती है। जिन ३० हजार छात्रों ने १९६४ में बर्कले स्थित केलिफोर्निया विश्वविद्यालय में उपद्रव किया था उनकी भाषा में कहें तो वे आई. बी. एम. कार्ड्स की तरह महसूस करते हैं।

(१२) आज के विद्यालय से संबंधित वर्त्तमान शैक्षिक प्रवृत्तियों की सूची में यदि तथाकथित पीढ़ी-भेद की बात न जोड़ें तो वह सूची सर्वथा अपूर्ण ही होगी। इस समस्या-क्षेत्र के संबंध में निःसंदेह बहुत कुछ कहा जा सकता है क्योंकि यहां हम एक ऐसी समस्या से ग्रसित हैं जिसे नीत्शे ने कभी 'जीवन मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन' की संज्ञा दी थी। पीढ़ी-भेद को लेकर जो जटिल स्थिति है उसका यदि विस्तार से वर्णन करूं तो मेरे लिये यह बहुत अधिक अवान्तर बात होगी। अतः कुछ छुटपुट बातें कहना ही पर्याप्त होगा। बहुत सी बातों से यह संकेत मिलते हैं कि जो छात्र अपने माता-पिता की तुलना में अधिक अनुकूल भौतिक वातावरण में पले वे वैसा कठिन श्रम करने सम्बन्धी नैतिक सिद्धान्त के विरोधी निकले जिसका प्रतिनिधित्व उनके माता-पिता की पीढ़ी कर रही है। युवकों की शंका है कि प्रातः ६ से सायं ५ तक अरुचिशील कार्य करने के भौतिक परिणाम क्या उतने सार्थक भी हैं? इसी प्रश्न से संबंधित उनका एक प्रश्न यह भी है कि दूषण एवं प्राकृतिक साधनों के शोषण, उच्च जीवन जीने और पुराने भौतिक अर्थों में सफल तकनीकी के नाम पर जो मूल्य उन्हें चुकाना पड़ रहा है उसका भी क्या कोई अर्थ है? वस्तुतः प्रौढ़ पीढ़ी की ईमानदार भावनाओं को ही आज चुनौती दी जा रही है। इन भावनाओं को पाखंड की संज्ञा तक से विभूषित किया जा रहा है। प्रौढ़ कहने को तो स्वतन्त्रता का सम्मान करते हैं पर करते

वे इसके ठीक विपरीत हैं। वे भाईचारे की बात करते हैं किन्तु वे अपने ही देश के लोगों व समूहों का शोषण करते हैं। वे समानता की बात करते हैं किन्तु केवल अपने लिये ही उच्च पद और अच्छी भौतिक सुविधायें जुटाते हैं (केनिस्टन, १६६८)।

न्यूनाधिक प्रचलित ये उक्त मुख्य बारह प्रवृत्तियां हैं। प्रश्न यह है कि इनमें से कौनसी और किस सीमा तक पोषित होंगी और आगामी २५–३० वर्षों में जो भावी शैक्षिक पद्धति होगी उसको किस तरह प्रभावित करेंगी। शैक्षिक पद्धति में ही जो संस्थागत शक्तियाँ काम कर रही हैं उनके प्रति सजगहोने के लिये समाज-विज्ञानी (सोशलसाइंटिस्ट) बनना जरूरी नहीं है; अतः श्रेष्ठ यही है कि कोई मूलभूत परिवर्तन होगा इसकी ज्यादा अपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। इसके विपरीत, मेरा विश्वास तो यह है कि उदाहरणार्थ स्वीडन में ही १६५० के लगभग, जब विद्यालय सुधार का पहला चरण आरम्भ हुआ था, कोई सर्वाधिक सक्षम दूरदर्शी तक यह नहीं बता सका था कि नामांकन विद्यालय संगठन में परिवर्त्तन तथा नयी शिक्षण योजना के संबंध में २० वर्ष बाद अर्थात् १६७० तक क्या घटित होने वाला है। भविष्य में झांकने के प्रयत्नों के अन्तर्गत केवल वर्त्तमान प्रवृत्तियों को ही आंक कर चलते हैं जो सामान्यतः इस धारणा पर टिकी होती हैं कि समाजगत प्राथमिकताओं को व्यवस्थित एवं विनिश्चित करने वाले कल के जीवन मूल्य और रुचियां वैसे ही होंगे जैसे वे आज हैं। वर्त्तमान समाज में बहुत सारी भौतिक योजनायें इसी पूर्व धारणा पर निर्मित की जाती हैं।

२.३. भविष्य

इस अध्याय के शेष भाग में स्वयं में ही एक जोखिम कार्य का जिक्र है जिसमें आज से २५–३० वर्ष बाद संसार के इस भाग में भावी विद्यालय के संबंध में पूर्वधारणा का विवरण दिया गया है। इन पूर्वधारणाओं में से कुछ भी यदि मात्र दिवा-स्वप्न ही होतीं तो मैं उनका नाम भी नहीं लेता। स्टॉकहोम स्थित स्कूल ऑफ एज्यूकेशन में गत कुछ वर्षों से सन् २००० में शिक्षा की स्थिति पर एक शोध परियोजना पर कार्य हो रहा है। इस कार्य का एक अभिन्न अंग यह प्रयत्न भी है कि राज्य मंत्रिमंडलों में शीर्षस्थ शैक्षिक विशेषज्ञों, राष्ट्रीय शिक्षा बोर्ड, स्वीडन के विश्वविद्यालयों के कुलपति कार्यालय, शिक्षक संघों, नियोजक एवं नियोजितों आदि के भावी शैक्षिक पद्धति संबंधी विचारों को व्यवस्थित रूप दिया जाये। अब तक तीन एक-दिवसीय सम्मेलनों में कुल में से लगभग १५ विशेषज्ञों ने साक्षात्कारों एवं प्रश्नावलियों से प्राप्त उत्तरों में व्यक्त मान्यताओं पर विचार-विमर्श किया है। अतः जो विचार नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं उन्हें लेखक द्वारा प्रस्तुत वह व्याख्या समझी जानी चाहिये जो भविष्य के संबंध में किये गये व्यवस्थित विचार-विमर्श का परिणाम है।

सामान्य समाज की प्रवृत्तियों के संबंध में पूर्वधारणा प्रकारान्तर से उक्त १२ बिन्दुओं के अन्तर्गत व्यक्त की गई है और इस तरह उनका यहां एक तरह से प्रक्षेपण मात्र ही हो पायेगा। सर्वप्रथम हम कह सकते हैं कि तकनीकी आविष्कारों के कारण परिवर्तन की प्रक्रिया बहुत तीव्र होगी। इसके साथ ही समायोजन एवं निष्फलता की समस्यायें भी जुड़ी हुई हैं। दूसरे, भोग्य पदार्थों के क्षेत्र के विस्तार एवं अवकाश समय में वृद्धि को भी ध्यान में रखना होगा। 'स्तर' शब्द से हमारा क्या तात्पर्य है इसका निर्णय करने के समय कुल राष्ट्रीय उत्पादन संबंधी पारम्परिक चिन्तन के प्रति विरोध भी उभर कर सामने आयेगा। एक उदाहरण लें जो कटु भले ही हो, पर है आंखें खोल देने वाला। अतिस्वन-विमान निर्माण की एक योजना कोनकोर्ड-प्रोजेक्ट के नाम से अंग्रेज-फ्रांसीसी सहयोग से अपनायी गई। राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को अभिवृद्ध करने वाली मानी जा कर राष्ट्रीय आय-खातों में उसे जोड़ दिया गया। देश (या दोनों देश) अधिक सम्पन्न हुए हैं। अतिस्वन विमानों से उत्पन्न अति तीव्र आवाज की समस्या के कारण हवाई-अड्डे जनसंख्या केन्द्रों से बहुत दूर निर्मित किये गये। इससे अर्थ-व्यवस्था में और वृद्धि हुई। हवाई-अड्डों तक पहुंचने के लिये नये कम समय वाले रास्ते बनाये गये और इस प्रकार यह तीसरी आर्थिक वृद्धि हुई। किन्तु ऐसी आर्थिक बारीकियों से अनभिज्ञ व्यक्ति पूछ सकता है कि ये अतिस्वन विमान सम-सामयिक समाज में कौन सी सुविधायें जुटाते हैं तथा जीवन को गुणात्मक स्तर पर कैसे ऊंचा उठाते हैं? इस सिद्धान्त के अनुसार, जिसे हम सामाजिक लागत गणना कह सकते हैं, सभी आर्थिक अभिवृद्धियां ऋणात्मक मात्र रह जाती हैं, गुणात्मक मूल्य तो दृष्टिगोचर ही नहीं होते। तीसरे, जन-संचार एवं यात्रा-साधनों की प्रगति को ध्यान में रखते हुए अधिक अंतर-राष्ट्रीय आदान-प्रदान को भी ध्यान में रखा जाना चाहिये क्योंकि विश्वव्यापी चेतना और अंतर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के प्रश्न भी इससे जुड़े हैं। चौथे, जानकारी के प्रवाह को भी दृष्टिगत रखना है जो जानकारी के उत्पादन-पक्ष अर्थात् शोध की मात्रा और वितरण-पक्ष अर्थात् सूचना देने वाली एजेन्सियों, विद्यालयों, जन-संचार साधनों और संगणकों से एक साथ जुड़ी हैं। पांचवें, जीवन मूल्यों की बहुलता पर भी हमें, चाहे अस्थाई रूप से ही सही, ध्यान देना चाहिये अर्थात् आज का समाज ऐसा है जहां छोटे एवं बड़े दोनों ही सर्वथा विपरीत विचारों एवं मूल्य-संकट से ग्रसित हैं। छठे, व्यर्थ-उत्पादन एवं प्रदूषण के प्रश्न से जुड़ी तकनीकी तथा पारिस्थितिक (ecological) व्यवस्था के बीच व्याप्त असंतुलन को भी ध्यान में रखना होगा। आने वाले कितने समय तक, जब तक कि प्राथमिकताएं पुनर्व्यवस्थित न हो जाएं, इस असंतुलन को किस तरह बर्दाश्त करते रहना होगा?

२.४. शिक्षा पद्धति

जहां तक शिक्षा पद्धति का प्रश्न है विशेषज्ञों से किये गये साक्षात्कार एवं विचार-विमर्श से चार मुख्य पूर्वधारणायें उभर कर सम्मुख आयी हैं। प्रथम, आगामी घटनाक्रम ऐसा है जो अधिकाधिक लोगों को

विद्यालय के बाहर या भीतर रहकर अधिक लम्बी अवधि तक शिक्षा-ग्रहण करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देगा। द्वितीय, ऐसे कई संकेत हैं जिनसे लगता है कि शैक्षिक व्यवस्था शेष समाज से निरन्तर अधिकाधिक जुड़ती जायेगी। अब तक विद्यालयों का संस्थागत कार्य बालकों एवं युवकों को शिक्षित करने तक ही सीमित रहा है। शिक्षा का भावी कार्य सभी पीढ़ियों के लिये 'अधिगम केन्द्र' संचालन की तरह का होगा। शिक्षा की योजना बनाने, शिक्षा देने तथा व्यक्तिगत स्तर पर अध्ययन करने के तरीकों को सुझाने की दृष्टि से विद्यालय का महत्व बढ़ता चला जायेगा। तकनीकी सहायक सामग्री तथा दूरदर्शन आदि का महत्व भी कम नहीं होगा। संगणकों की सहायता से घरों में दुबारा सीखने की प्रक्रिया को पुनः संभव बनाया जा सकेगा अर्थात् घर पर ही अधिकांश वह काम सीखा जा सकेगा जो आज अध्यापकों द्वारा सिखाया जाता है। अध्ययन केन्द्रों पर जाने का मुख्य उद्देश्य व्यक्तिगत मार्गदर्शन प्राप्त करना और जिन विषय-क्षेत्रों में ऐसे कार्य-अभ्यास आवश्यक हैं उनमें सामूहिक विचार-विमर्श करना होगा। कुछ ऐसे संकेत भी हैं जो बताते हैं कि पूर्व-प्राथमिक विद्यालय, किशोर विद्यालय तथा प्रौढ़-शिक्षा में महत्वपूर्ण परिवर्तन होगा। यह मान्यता बल पकड़ती जा रही है कि किशोर विद्यालयों के साथ न्याय हो चुका और समय आ गया है जबकि पूर्व प्राथमिक विद्यालय और प्रौढ़-शिक्षा को उच्च प्राथमिकता दी जाय। जिन शोध-अध्ययनों में नियमित विद्यालयों का अधिकतम लाभ उठाने की योग्यता की दृष्टि से पूर्व-विद्यालयी वर्षों का महत्व दर्शाया गया है उन अध्ययनों पर ध्यान दिया जाना आरम्भ हो गया है। प्रौढ़-शिक्षा के संबंध में प्राप्त प्रमाण यह संकेत देते हैं कि नये अवसरों का अधिकांश वे लोग लाभ उठाते हैं जो पहले से ही सुसम्पन्न हैं जबकि निम्न वेतन समूहों तथा सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोग इन सुविधाओं का लाभ नहीं उठा पाते। यह इस प्रश्न का उत्तर है कि, उदाहरणस्वरूप स्वीडन में ही, विभिन्न 'खोज कार्यक्रमों' में पूंजी विनियोजन की संभावनाओं पर क्यों विचार-विमर्श किया जा रहा है। जहां तक 'पुनरावृत्ति' अथवा 'व्यवसाय अवस्थित शिक्षा' को संस्थागत बनाने का विचार है, ऐसा होने से यह तो सुनिश्चित हो ही जायेगा कि किशोर-विद्यालय में कुछ वर्ष शिक्षा-ग्रहण करने के बाद भी शिक्षा के द्वार खुले रहेंगे। अभी तक शिक्षा-पद्धति में विद्यालयों को १०० प्रतिशत महत्व प्राप्त है किन्तु उक्त स्थिति में उनका प्रभुत्व कुछ कम अवश्य हो जायेगा।

इस तथ्य की ओर पहले ही इंगित किया जा चुका है कि हम परिवर्तन की एक ऐसी स्थिति में हैं जबकि विद्यालय के लक्ष्य बदल रहे हैं अर्थात् किसी 'निश्चित' और जीवन पर्यन्त ज्ञान प्रदान करने की अपेक्षा कुछ मूलभूत कुशलताओं को सिखाने पर बल दिया जा रहा है, जिनमें सबसे पहली कुशलता है 'सीखने की कुशलता सीखना'

(हुसेन, १९६९)। नागरिकों को कुशलतायें सिखाने एवं निश्चित विषय-वस्तु की संदर्भ सामग्री को यथासंभव विस्तृत आकार में उपलब्ध कराने के उद्देश्य से विशिष्टीकरण पर उत्तरोत्तर अधिक बल दिया जायेगा। यह विशिष्टीकरण सुनिश्चित व्यावसायिक कार्यों से अनिवार्य रूप से जुड़ा होगा। व्यक्तित्व विकास करने की भूमिका की दृष्टि से जन-संचार, समवयस्क समूहों तथा संगठनों आदि की तुलना में विद्यालय की भूमिका कम महत्वपूर्ण होगी।
अब तक जो कुछ उभर कर सामने आया है उसके साथ कुछ निश्चित पूर्वधारणायें जुड़ी हैं जो भविष्य के विद्यालय अथवा अधिगम केन्द्रों के द्वारा अपनाये जाने वाले कार्य अभ्यासों से संबंधित हैं। इन पूर्व-धारणाओं को पारिभाषित नहीं किया गया, अतः अब हमें उन्हें स्पष्ट करने की दिशा में आगे बढ़ना चाहिये। जहां तक एक या दूसरे प्रकार के सहायक तकनीकी उपकरणों के द्वारा अध्यापक की भूमिका को बदल देने का प्रश्न है (इस बिन्दु पर हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं), इस संबंध में भी यहां कुछ कहना ही होगा।

हम पहले ही यह पूर्व धारणा बना चुके हैं कि सामान्य शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षा अंतरप्रविष्ट होंगी क्योंकि किसी एक व्यवसाय की जानकारी जो आज पर्याप्त समझी जाती है वह दो-तीन दशकों के बाद शायद ही समुचित लगे। अतः यह विरोधी स्थिति कि उत्कृष्ट व्यावसायिक शिक्षा सामान्य शिक्षा का ही एक अन्तर्निहित भाग होती है, एक अच्छा आधार है जिस पर भविष्य की शिक्षा का निर्माण किया जा सकता है।

शिक्षण अधिकाधिक व्यक्ति-आधारित होता चला जायेगा। जो भी हो, विद्यालय सामाजीकरण के कार्य को संपन्न करता है। इस दृष्टि से यह आवश्यक हो जायेगा कि अध्यापक और छात्र के व्यक्तिगत संबंधों को न केवल विकसित ही किया जाय, अपितु बड़े समूहों को परंपरागत तरीके से शिक्षा देने की कीमत पर भी अध्ययन केन्द्र जैसे समूह-कार्य को भी अधिक स्थान दिया जाय। समूह के आकार, तथाकथित श्रेणियों या कक्षाओं के विभाजन एवं विषय-वस्तु क्षेत्रों के निर्धारण तथा सीखने के केन्द्रों में उपस्थिति की दृष्टि से हमें लचीला बनना पड़ेगा।

विद्यालयों में अध्यापक को मुख्यतः योजना बनाने, मार्गदर्शन करने और व्यक्तिगत स्तर पर छात्र की प्रगति का मूल्यांकन करने हेतु बुलाया जायेगा। ज्ञान के वास्तविक प्रसारण और सीखने का कार्य अनिवार्यतः पूर्व निर्मित सामग्री पर ही आधारित रहेगा। स्टॉकहोम स्थित स्कूल ऑफ एज्यूकेशन में विद्यालय कार्य के उद्देश्यों में परिवर्तन और इसके परिणामस्वरूप अध्यापक की भूमिका में परिवर्तन के सम्बन्ध में विशेषज्ञों से हुए विचार-विमर्श का निष्कर्ष यह है कि विद्यालय के सदियों से समादृत सीखने के कार्य और गत दशक में निर्मित अधिकृत पाठ्यक्रम में पारिभाषित सामाजीकरण कार्य के बीच कोई विभाजन रेखा खींची जानी चाहिये। यद्यपि दोनों ही कार्य वर्तमान पाठ्यक्रम में समाहित कर लिये गये हैं तथापि यह अधिक

ठीक रहेगा कि विभिन्न शिक्षा के स्तरों पर विभिन्न मात्रा में बल देने की दृष्टि से उन्हें विभाजित कर दिया जाये। उदाहरणार्थ, बालक के विद्यालय में प्रवेश के समय ही सामाजीकरण कार्य पर विशेष बल दिया जाय और उन अध्यापकों को सौंप दिया जाय जो युवक नेतृत्व में प्रशिक्षित हैं तथा ज्ञान एवं चिन्तन संबंधी अन्य कुशलताएं उन विशेषज्ञों को सौंप दी जाएँ जो इस कार्य में प्रशिक्षित हैं।

यह महत्वपूर्ण है कि भविष्य की योजना लचीली बनायी जानी चाहिये। विचार परिवर्तन की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहनी चाहिये। इसके स्थान पर निश्चित विकल्पों तथा संकीर्ण प्रतिबद्धताओं को कभी नहीं अपनाया जाना चाहिये चाहे वे कितनी ही लाभदायक एवं स्पृहणीय क्यों न हों। भविष्य के संबंध में अनुमान लगाते समय तथा अभी आज हम जो योजना बना रहे हैं या जो कर रहे हैं उसके स्वरूप का निश्चित शब्दावली में व्यक्त करने के प्रयत्न में भी हमें न केवल अपने वर्तमान कार्यों के प्रति सजग रहना है अपितु यह ध्यान भी रखना है कि हमारे पास से क्या हटाया जा रहा है। भविष्य के विषय में धारणा बनाना एक नया अनुसंधान क्षेत्र (१९६० से ही) बन गया है। यह तथ्य इस विश्वास का द्योतक समझा जाना चाहिये कि भविष्य को नियंत्रित भी किया जा सकता है और यह भी समझा जाना चाहिये कि हमने इंजीनियरिंग क्षेत्र की अनिवार्यता को सम्पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं कर लिया है। जैसे स्वीडन में १९८० तक 'एक्स' लाख मोटर गाड़ियां दौड़ने लगेंगी, अतः 'वाई' मील लम्बे मोटर-मार्गों की आवश्यकता पड़ेगी। सर्वोपरि बात तो यह है कि आज के युवक ने 'शासन वृत्ति' (King Trend) के विरुद्ध क्रान्ति की है, यह 'शासन वृत्ति' (King Trend) एक ऐसा ईश्वर है जिसके सम्मुख विशेषज्ञ भी सिर नवाते हैं। भविष्य की खोज का तात्पर्य यह नहीं है कि हम उसके विषय में सब कुछ स्पष्टतः चित्रित कर सकेंगे। तथापि हम समझते हैं कि ऐसे प्रयत्नों से अपनी इच्छानुरूप विश्व को गढ़ने की दिशा में कुछ किया जा सकता है।

अनु०– **प्रेम सक्सेना**

३

भविष्य के विद्यालयों के लिए उपयोगी कार्य

३.१ 'अधिगम-समाज' (लर्निंग सोसाइटी) के बारे में कुछ मान्यताएँ

जो शिक्षाविद विद्यालयों के भविष्य की कल्पना करते हैं उन्हें अपनी उक्त कल्पना भावी समाज की तार्किक संभावनाओं की भित्ति पर स्थिर करनी पड़ती है। ऐसी कुछ कल्पनाएँ तो एकदम तर्कपूर्ण व सुसंगत लगती हैं और कुछ संदिग्ध बल्कि अन्तर्विरोध से ग्रस्त भी लगती हैं। उनकी संदिग्धता व उनके अन्तर्विरोध का एक कारण आकस्मिक औद्योगिकी (टेकनॉलॉजिकल) विस्फोट भी हो सकता है। भविष्य के विद्यालय की रूपरेखा बनाने के प्रयत्नों में भविष्य के सामाजिक ढाँचे (इस शताब्दी के अन्त के) की कल्पना और कार्यकारी जीवन के उपलक्षणों की कल्पना आधारिक रूप से सम्मिलित रहेगी। स्थूल रूप से, भावी समाज की ये कल्पनाएँ आर्थिक व औद्योगिक रूप से विकसित समाजों पर विशेषतः और अन्य समाजों पर सम्बद्ध रूप से लागू हो सकेंगी। समाज की उन कल्पित विशेषताओं के आधार पर ही उनके शैक्षिक

प्रभाव की उपकल्पना भी की जा सकेगी। साथ ही, भविष्य के विद्यालय की कल्पना शिक्षा की तदनुकूल संभावित व्यवस्था– जैसे, दृश्य-श्रव्य साधनों की उपलब्धि, अध्यापन-यंत्रों की उपलब्धि, विद्यालय-भवन, पद्धतियों व अध्यापकों के प्रशिक्षण में अन्तर आदि – पर भी निर्भर रहेगी।

आने वाली दशाब्दियों में हमें अनेक क्षेत्रों में द्रुततम परिवर्तनों को स्वीकारना पड़ेगा। उनका प्रत्यक्ष प्रभाव उन उद्योग-प्रधान देशों पर – उनकी अर्थ-व्यवस्था पर – पड़ेगा जो कि विकास की उच्चतम गति से आगे बढ़ रहे हैं। उनके विकास के सहज परिणाम होंगे – वैयक्तिक जीवन-स्तर में वृद्धि तथा कम्प्यूटर-औद्योगिकी-जन्य तथा विद्युतीकरण-जन्य सर्वथा नवीन औद्योगिक क्रान्ति। विकासमान तथा विकसित औद्योगिक देशों के बीच शिक्षा-व्यवस्था की भाँति सांस्कृतिक विक्षेप और वृत्ति तथा मूल्यों का अन्तराल भी एक प्रधान समस्या है। इस अन्तराल का उपादान कारण बाह्य औद्योगिकी, अर्थ-व्यवस्था तथा आर्थिक संस्थाओं की भिन्नता है। इस अन्तराल का एक उदाहरण 'लैंगिक नैतिकता' पर पड़ने वाले उस प्रभाव का भी है जो 'निरोध' के बढ़ते उपयोग से निष्पन्न होगा। वस्तुतः ही औद्योगिकी के द्वारा कार्यकारी जीवन में फलित हो रहे द्रुत परिवर्तन सांस्कृतिक व नैतिक विस्थापन के लक्षण से मुक्त रह नहीं सकते। नई औद्योगिकी के दबाव में बहुसंख्यक जनता नित्य बदलती भौतिक स्थितियों, निर्वैयक्तिक वातावरण और तज्जन्य भावनात्मक तथा मानसिक तनाव से संत्रस्त रहती है। नई औद्योगिकी कई लोगों पर यह दबाव भी डालेगी कि वे अपनी पूर्व-शिक्षा व योग्यता का नवीनीकरण करते रहें बल्कि कई क्षेत्रों में तो पुनः प्रशिक्षण भी आवश्यक हो जाएगा क्योंकि विद्यमान व्यावसायिक अनुभव और कौशल शीघ्रता के साथ अनुपयुक्त सिद्ध होते जाएँगे। व्यवसायों तथा कार्यों की परिवर्तनशीलता भौगोलिक गतिशीलता में अतुल वृद्धि करेगी; विविध प्रकार के तकनीशियनों, विशेषज्ञों से बने हुए नये समुदाय अधिक प्रभावकारी रूप से उभरेंगे; समाज बहु-मूल्यात्मक तथा विविध निकषात्मक ऐसे वातावरण से न्यस्त हो जाएगा कि सीधे और सपाट निष्कर्षों पर चलने वालों को उसमें समायोजित हो पाने में कठिनाई होगी। औद्योगिकी और जीवनगत स्थिर मूल्यों के बीच असामंजस्य जितना अधिक होगा, सामाजिक व नैतिक विस्थापन और फासिस्ट प्रतिक्रियाओं के बढ़ने की आशंका भी उतनी ही अधिक होगी।

नागरीकरण त्वरित गति से होता रहेगा। अधिकाधिक लोग नगरों, उप-नगरों व शहरों में रहेंगे। उन सबके बीच परस्पर भिन्न पारिवारिक पृष्ठभूमि तथा जीवनगत विविध मूल्यों का विचित्र-सा अनौपचारिक सम्बन्ध रहेगा। यों भी ग्राम्य-अंचलों की तुलना में नागरजनों के बीच सामाजिक नियंत्रण शिथिल तथा अप्रभावकारी होते हैं; ग्राम्यांचलों में व्यक्ति जितना 'प्रत्यक्ष' होता है, नागर-वातावरण में वह उतना ही अधिक 'अप्रत्यक्ष' होता है। सामाजिक नियंत्रण की शिथिलता और नैतिक तथा सामाजिक अपराध-वृत्ति को – विशेषतः किशोरवर्ग में – प्रोत्साहित करती है। विगत कुछ वर्षों में बड़े-बड़े उद्योगों तथा संगठनों की निर्वैयक्तितता आदि ने व्यक्ति में विरक्ति तथा अनास्था की मनोवृत्ति को अधिक मुखर बनाया है। अनन्त, अकल्पनीय, अप्रत्ययपूर्ण उत्पादन-तंत्र के एक अंग के रूप में व्यक्ति अपने देय तथा श्रेय की परिभाषा कर पाने में अपने को असमर्थ पाता है और 'अपने मूल्य' का गर्व तो वह कर ही नहीं पाता। ऐसी परिस्थितियों में फॉसिस्ट मनोवृत्तियों और सामूहिक प्रतिक्रियाओं के पनपने और उनके माध्यम से वर्गगत अधिकार और आतंक स्थापित करने की प्रवृत्ति एक सहज परिणति होती है।

३.१.१ परिवार तथा विश्राम-काल

एक संस्था के रूप में परिवार के कार्य तथा दायित्व औद्योगिक व नागरीकृत समाज में बहुत कुछ बदल गए हैं। जो कुछ परिवर्तन चरितार्थ हुए हैं वे कुछ इस प्रकार के हैं: विगत काल की अपेक्षा परिवार में बच्चे कम होते हैं। पहिले की अपेक्षा परिवार के सामान्य कार्यों की संख्या घट गई है। पिछले वर्षों के कृषि या उद्योग परिवार, परिवार तथा समुदाय दोनों ही होते थे जो काम और विश्राम दोनों ही दृष्टियों से संचालक हुआ करते थे। अब रोजी-रोटी कमाने का क्षेत्र घर से बाहर होता है; न केवल पिता बल्कि माताएँ भी—चाहे पूर्ण दिवसीय पद्धति पर या अंशकालिक पद्धति पर—अर्थोत्पादन का कार्य करती हैं। उनके बच्चे स्वभावतः ही अपना अधिक समय स्कूलों में व्यतीत करते हैं। अब यह आवश्यकता अधिकाधिक अनुभव की जा रही है कि विद्यालय में प्रवेश लेने से पहिले भी बच्चों की देख-रेख तथा सार-सँभाल के लिए विविध प्रकार की संस्थाएँ संगठित की जाएँ। इस प्रकार की व्यवस्थाएँ प्रचलित हो जाने पर परिवार के कार्य केवल दो पक्षों तक प्रतिबंधित हो जाते हैं — सन्तानोत्पत्ति तथा शिशुओं का पोषण: शेष दो कार्यों – आर्थिक तथा सुरक्षात्मक – का उत्तरदायित्व अब समाज लेता जा रहा है।

दूसरी ओर, काम के घण्टों में निरन्तर कमी होते रहने से और विश्राम-काल में वृद्धि होते रहने से खेल तथा मनोरंजन के क्षेत्र में अधिकाधिक व्यापक सहयोग संभव दीखता है। परिवार मनोरंजनगत अनुभवों के सहभागीत्व तथा समायोजन का केन्द्र बन जाएगा। अगली कुछ दशाब्दियाँ (अधिक उत्पादन तथा जीवन-स्तर में वृद्धि के कारण) परिवारों के लिए दो विकल्प प्रस्तुत करेंगी – या तो वे अपने लिए अधिकाधिक उपभोक्ता-स्थिति स्वीकार करें या फिर विवर्धमान मनोरंजन और विश्राम का विकल्प स्वीकार करें। उद्योगों में तकनीकी प्रविधियों के बढ़ते उपयोग ने विश्राम के समय में वृद्धि कर दी है, अतः दूसरी ओर यह प्रश्न भी उभर रहा है कि विश्राम-काल का अधिक सार्थक उपयोग किस प्रकार किया जाए।

दीर्घ आयुष्य और सन्तानोत्पत्ति-काल को दाम्पत्य-जीवन के आरम्भ में केन्द्रित करने की प्रवृत्ति ने महिलाओं के लिए अन्य कार्य-

कलापों का क्षेत्र व्यापक रूप से उपलब्ध करा दिया है।

इस बात पर विशेष बल दिया जाने लगा है कि समसामयिक समाज के 'संगठन व्यक्ति' (यानी ऐसे व्यक्ति जो अपने को स्थिति से समायोजित कर ले सकें, जो अपने को ढाल सकें, जो मूल्य-निरपेक्ष हों और जो व्यवसाय में प्रभावकारी सिद्ध हो सकें) के निर्माण की माँग का प्रभाव यह पड़ेगा कि परिवार भावनात्मक आश्रयन और सम्बल का दृढ़ केन्द्र बन जाएगा। भौगोलिक गतिशीलता के कारण तथा बाह्यजीवन के कृत्रिम व क्षणिक व्यावसायिक प्रतिचारों की ऊब के कारण व्यक्ति सहजतया ही पारिवारिक जीवन की ओर अधिक आकृष्ट होगा जो उसे भावनात्मक तुष्टि और अपने को अहम् रूपायित कर पाने का एकमात्र ऐसा स्थल होगा जैसा समाज में अन्यत्र नहीं मिल पाएगा। इस कल्पना की एक उपपत्ति यह भी होगी कि बृहद् संगठित समाज तथा उसके विविध अभिकरण व संस्थाएँ – बृहद् उद्योग, नौकरशाही, विद्यालय आदि, अधिकाधिक निर्वैयक्तिक होंगी और उनमें 'व्यक्तिमत्ता के स्फोट' की संभावना प्रायः नहीं के बराबर रह जाएगी। तत्परिणामतः परिवार ही एक ऐसा स्थान बन पाएगा जहाँ व्यक्ति की अवरुद्ध निराशाओं व चिन्ताओं को कुछ मुक्त अभिव्यक्ति मिल सकेगी। अन्तरंग निश्छल सान्निध्य तथा संवेदनाओं के सहभागीत्व के प्रबल केन्द्र के रूप में परिवार ही निर्वैयक्तिकता की मरुभूमि में हरित-स्थल होगा। नितान्त औपचारिक और यन्त्रवत् जगत् में विवाह संस्था भावनात्मक महत्व अर्जित करेगी; विवाह का अर्थ होगा – व्यक्ति-व्यक्ति में तादात्म्य और सहज अभिव्यक्ति का सहज स्रोत। इस प्रकार मशीनी व प्राविधिक जगत् के असंतुलन को संतुलित करने की शक्ति के रूप में परिवार का महत्व बढ़ेगा जो व्यक्ति में नई चेतना का संचार कर उसे बाहरी जगत का 'सामना करने की शक्ति' देता रहेगा। बच्चों के पालन-पोषण में व्यक्तिमत्ता तथा भावात्मक तादात्म्य का महत्व सर्वोपरि हो जाएगा।

३.१.२ व्यापक संचार

सामूहिक माध्यम और भौगोलिक गतिशीलता के कारण न केवल देश के विभिन्न भागों में बल्कि विभिन्न देशों में भी संचार की संभावनाएँ बढ़ जाएँगी। वस्तुतः आगामी संसार अतिरंजित अन्तर्राष्ट्रीयता का संसार होगा। विकासमान देशों में जनसंख्या-नियंत्रण स्वभावतः उनके जीवन-स्तर तथा शैक्षिक-स्तर में उन्नति लाएगा। आगामी दशाब्दियों में औद्योगिक तथा विकसित देशों का मुख्य अभियान अकाल तथा गरीबी से जूझने का होगा जो कि आज की दुनिया के अधिकांश भाग का भाग्य है। व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय संचार एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमरीकी देशों को अपने पिछड़ेपन तथा निम्नतर जीवन-स्तर के प्रति सचेत व सचेष्ट होने की प्रेरणा देगा। इसके परिणामस्वरूप वहाँ सामाजिक क्रान्ति मूलक आन्दोलन पनपेंगे। समग्रतया देखें तो पश्चिमी औद्योगिकी के द्रुतगति से अधिग्रहण के परिणामस्वरूप इन देशों में सांस्कृतिक विघटन और सामाजिक उथल-पुथल की भयंकर समस्याएँ उत्पन्न होंगी।

उपग्रह-संचार व्यवस्था के कारण अधिकाधिक लोग अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं और हलचलों के प्रति संवेदनशील बनेंगे। वे सामूहिक संचार माध्यम को सामान्यतया और टेलीविज़न को विशेषतः वास्तविकता-पूर्ण तथा सत्यतः स्वीकार करेंगे। लोग अपने व्यक्तिशः अवलोकन द्वारा प्राप्त तथ्यों की तुलना में सार्वजनिक समाचारों को अधिक सत्य व स्वीकरणीय मानेंगे; जो घटना सार्वजनिक संचार में स्थान नहीं प्राप्त करेगी उसके अनस्तित्व को सहज भाव से स्वीकार कर लिया जाया करेगा। इन तथ्यों से यह ज्ञात होता है कि सार्वजनिक मंच पर क्या प्रसारित किया जाए इसका निर्णय बृहद् समाज की अपेक्षाओं से होगा, व्यावसायिक हितों की अपेक्षा से नहीं।

उद्योग-प्रधान देशों में पर्यटन उद्योग के विस्फोटक विकास ने अधिकाधिक लोगों को यात्रा के अवसर उपलब्ध कराए हैं, विज्ञापन व्यवसाय के साथ-साथ उपभोग के उच्चतर स्तर प्राप्त किए गए हैं, विज्ञापन और प्रचार औद्योगिक जगत का उच्चतम स्वर है।

३.१.३ स्वास्थ्य समस्याएँ

औद्योगिकी के माध्यम से उच्चतर भौतिक सुविधाओं की सम्प्राप्ति स्वास्थ्य-समस्याओं के मूल्य पर ही हो पाई है। हमारी तकनीकी सभ्यता के अपशिष्ट उत्पादन जल और वायु को दूषित करने में संलग्न हैं। प्राकृतिक स्रोतों और साधनों का विवेकहीन निश्शेष दोहन भावी पीढ़ियों को कंगाल कर देगा– यदि इस दोहन पर कोई प्रभावकारी प्रतिबन्ध न लगाए जा सकें तो प्राकृतिक स्रोतों का विखण्डन और जल का संदूषण जीवन-तत्वों के संतुलन पर भी प्रतिकूल प्रभाव डाल सकता है। १९६० की दशाब्दी में ही महानगरियों के आकाश धुएँ की धुंधआहट से काले होने शुरू हो गए हैं; पैट्रोल की विषाक्त गैस वायुमण्डल के संदूषण में और अधिक वृद्धि करती है और छोटे-मोटे उद्योग भी इस संदूषण में कुछ-न-कुछ योगदान करते ही रहते हैं। यह कल्पना की जा सकती है कि निकट भविष्य में नगर-न्यास तथा तकनीशियन अपशिष्ट सामग्री, कूड़ा-करकट और स्वास्थ्य रक्षा की समस्याओं से कहीं अधिक सक्रियतापूर्वक जूझते नज़र आएँगे।

आधुनिक समाज की जीवन शैली स्वयं ही अपने लिए स्वास्थ्य समस्याएँ उत्पन्न करती है। जैसे कि अब तक मांसपेशियों और स्नायुओं पर पड़ने वाला दबाव कम नहीं था, नई औद्योगिक तकनीकों ने उनके उपयोग की संभावना और भी घटाकर प्रायः नहीं के बराबर कर दी है। औद्योगिक इंजीनियरी मानवीय श्रम को नकार कर चलने के पथ पर अग्रसर हो चुकी है। मानवीय श्रम की तुलना में चक्रचालित गतिशीलता को अधिकाधिक प्राथमिकता देने की प्रवृत्ति लोगों में अधिकाधिक स्थूलता (मोटापे) के खतरों को बढ़ावा देती है। तीखे तनावों के बीच गुज़रता हुआ जीवन, निराशा और असफलता के अनेकानेक कारण और इन्हें उद्दीप्त करने वाली

दफ्तरी समाज व्यवस्था – ये सब मिलकर हृदय-रोगों को सर्वसामान्य रोग बना देंगे; उस पर आदमी अतिभोजन के रोग से भी ग्रस्त रहेगा। अतः समाज की एक नई आवश्यकता यह होगी कि वह स्वास्थ्य-शिक्षा कार्यक्रम लागू करे। यों, चिकित्सा शास्त्र की प्रगति के साथ संभावित हृद्-रोगों पर विजय पा ली जा सकेगी और आदमी का औसत आयुष्य भी बढ़ जाएगा। यह तथ्य मनुष्यों में अपनी सेवा-निवृत्ति के लिए व्यक्तिशः समय चुनने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देगा और लोग नियमित सेवा से मुक्त होने के बाद भी सोद्देश्य कार्यों में प्रवृत्त रहेंगे।

३.१.४ दफ्तरशाहीकरण

निजी तथा सरकारी दोनों ही क्षेत्रों में समाज व्यवस्था – बड़े-बड़े संगठनों, उद्योगों आदि में – दफ्तरी ढंग पर नियोजित हैं। हम लोग सिर के बल संगठनात्मक समाज के पथ पर चल पड़े हैं। ज्यों-ज्यों समाज संश्लिष्ट और संकुल होता जाएगा और समन्वय, समायोजन और आयोजना की आवश्यकता बढ़ती जाएगी, त्यों-त्यों सरकार और प्रशासन में लोकाभिकरण विस्तृत और व्यापक होते जाएँगे; यह इसलिए भी होगा कि स्वयं दफ्तरशाही में विस्तारवादी प्रवृत्ति अन्तर्निहित रहती है। अधिकारी वर्ग अत्यन्त महत्वपूर्ण बन जाएगा क्योंकि प्रत्येक अधिकारी अपने लोकाभिकरण का प्रतिनिधि व प्रतीक बनकर लोकहित का नियामक माना जाएगा। लोगों और अधिकारियों के सम्बन्ध याचक और दाता के या मुवक्किल व वकील के से होंगे। यही स्थिति निजी संगठनों, संस्थाओं आदि के प्रशासनिक ढाँचे में भी रहेगी। इस संकुल प्रशासन यंत्र की संश्लिष्टता में व्यक्ति अपने को खो देगा, वह अनेकों के बीच अकेलापन अनुभव करेगा। बहुलता के बीच विरक्ति और अकेलेपन की यह समस्या भविष्य के समाज की और राजनीति की प्रमुख समस्या बनेगी। सामाजिक प्रयत्नों का लक्ष्य यह रहेगा कि व्यक्ति का अकेलापन कैसे दूर किया जाए और दफ्तरशाही के अन्यायों और अतिचारों से व्यक्ति को (सरकारी और निजी दोनों क्षेत्रों में) कैसे सुरक्षित रखा जाए। संभावना यह है कि प्रशासन-तंत्रों और संगठनों के भीतर भी कुछ ऐसे भावनात्मक प्रतिरूप खड़े किए जाएँगे जो परिवार की भाँति व्यक्ति को भावात्मक विघटन से बचाने का यत्न करेंगे। सामूहिक स्रोतों से उद्भूत प्रतिक्रियाएँ प्रशासनिक तंत्र की रीति-नीति व उसकी हिताकांक्षिता के एकदम विपरीत पड़ती हैं।

३.१.५ जिज्ञासु समाज

आज से कुछ दशाब्दियों बाद के समाज में जन्म या वंशानुक्रम का प्रतिष्ठा मापक महत्व बहुत ही कम हो जाएगा। वंशानुक्रम के स्थान पर शैक्षिक योग्यता सामाजिक प्रतिष्ठा का स्थानापन्न मापक होगी। तकनीशियन, विशेषज्ञ और वैज्ञानिक समाज के महत्वपूर्ण सन्दर्भ्य व्यक्ति बनेंगे; इसलिए भी कि वे नई प्रविधियों व नई आयोजनाओं के आधिकारिक व्यक्ति होंगे, और इसलिए भी कि राज्यों व व्यवसायों के नीति-निर्धारण में उनके अधिकार और महत्व को सर्वोपरि रखा जाएगा। शिक्षा में विशेषज्ञता और सामान्यशिक्षा का विवाद पारस्परिक उपयोगिता के किसी मिलन बिन्दु पर स्थिर हो जाएगा। किन्तु, भविष्य का समाज वस्तुतः 'योग्यतापरक' (मेरिटोक्रैटिक) ही होगा जिसमें सामाजिक गतिशीलता, उन्नति और प्रतिष्ठा का निर्धारण शिक्षा और योग्यता के आधार पर ही होगा।

आज के पश्चिमी समाज में प्रगतिवाचक 'विस्फोट' के नाम से जो-जो लक्षण प्रचार पा रहे हैं उनमें से 'ज्ञान का विस्फोट' सर्वाधिक समुपयुक्त लगता है। 'ज्ञानात्मक उद्योग' की चर्चा भी प्रायः उठती है जिसमें ज्ञान के उत्पादक (अनुसंधान संस्थान) और वितरक (स्कूल, संचार साधन, प्रकाशन, पुस्तकालय आदि) दोनों को समाहित किया जाता है। जो कुछ हमने १९६० की दशाब्दी में अनुभव किया है उससे संभावना ऐसी लगती है कि अगले दस-बीस वर्षों में ज्ञान के संचार में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ जाएँगे। ऐसा लगता है कि 'हार्डवेयर' और 'सॉफ्टवेयर' में विवाह-सम्बन्ध हो जाएँगे जिनमें एक ओर तो कम्प्यूटर-उत्पादन (हार्डवेयर, जैसे आई. बी. एम.) और रिप्रोग्राफ़िक उद्योग (जैसे, शुष्कताभावी परिरक्षण) होंगे और दूसरी ओर ग्रन्थ, समाचार-पत्र, पत्रिकाओं (सॉफ्टवेयर) आदि के प्रकाशन होंगे। घरों में या कक्षाओं में दृश्य तथा श्रव्य दोनों ही प्रकार की सूचनाएँ व्यक्तिगत स्तर तक प्रसारित करने के प्रयत्न प्रत्यक्ष होंगे। शिक्षण के व्यक्तिगत सम्प्रसारण के लिए उसे इस प्रकार से नियमित व प्रतिबंधित किया जा सकेगा कि सम्बद्ध ज्ञान किन्हीं प्रोग्रामों की इकाइयों के रूप में कम्प्यूटर-बद्ध किया जा सके या किन्हीं ऐसे केन्द्रीय स्थलों पर सुरक्षित रखा जा सके कि व्यक्ति अपनी योग्यता और आवश्यकतानुसार उसे प्राप्त कर सके। और, जिस सीमा तक सूचनाएं इन रूपों में सहज प्राप्तव्य हो सकेंगी, उस सीमा तक स्कूलों को अपने कार्यक्रम विशदता के साथ तैयार करने होंगे और यह सोचना होगा कि विषय-वस्तु में क्या बातें याद कराई जानी चाहिएँ और क्या नहीं। (आशय यह कि स्कूलों में 'स्मृति शिक्षण' का महत्व प्रायः नहीं के बराबर हो जाएगा)।

अगली दो दशाब्दियों के व्यतीत होते-होते 'शैक्षिक अवसरों की समानता' का लक्ष्य प्रायः प्राप्त कर लिया जाएगा और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी संभावित योग्यता के अनुकूल शिक्षा का अवसर प्राप्त हो सकेगा। आर्थिक और भौगोलिक अवरोध वस्तुतः दूर हो जाएंगे। विभिन्न सामाजिक वर्गों में व्याप्त उच्चावचता तथा 'शैक्षिक औचित्यानौचित्य' की भावना व्यावहारिकतया लुप्त हो जाएगी। १९८० की दशाब्दी में जो बच्चे (अटलांटिक क्षेत्र में) शाला में प्रवेश लेंगे उनके माता-पिता स्वयं ही उस दौर में से गुज़रे हुए होंगे जिनके समय में माध्यमिक-शिक्षा अनिवार्य हो चुकी होगी। उनके (माता-पिताओं) मन में अपने बच्चों के लिए उच्चतम शिक्षा की आकांक्षा रहेगी। १९८० के प्रारंभिक वर्षों में उन्नत औद्योगिक देशों (जैसे, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, जापान, स्वीडन) में १९ या २० वर्ष की आयु के

प्राय: ८० प्रतिशत लोग स्कूलों में ही जीवन व्यतीत करेंगे। व्यक्तिगत आकांक्षाओं पर केवल वे ही प्रतिबन्ध चरितार्थ होंगे जो राष्ट्रीय आवश्यकताओं व आकांक्षाओं के रूप में निर्धारित किए जाएँगे। इसका तात्पर्य यह भी होगा कि उच्चतर शिक्षा के केन्द्र (जिनमें २० वर्ष तक की आयु के अधिकतर नवयुवक शिक्षा ग्रहण कर रहे होंगे) आज की अपेक्षा एक भिन्न अर्थ में नई संस्कृति के केन्द्र होंगे। सांख्यिकी इन विश्वविद्यालयीय स्नातकों को शक्ति-पुंज के रूप में परिणत किया करेगी और उनका महत्व इस बात पर निर्भर हुआ करेगा कि उद्योगों और सामूहिक व्यापारों में किसकी कितनी खपत होती है।

आज की तुलना में आगामी कल के जिज्ञासु नवयुवक कहीं अधिक मुखर होंगे। संसार की समस्याओं के प्रति सजग व सचेत रहते हुए, अपने माता-पिताओं की अपेक्षा कहीं अधिक नये मार्गों व उद्देश्यों की खोज में संलग्न वे नवयुवक केवल 'जीते रहने' की तुलना में जीवन-संघर्ष को नये अर्थ व मूल्य देने की चेष्टा करेंगे। अनेक उन्नत देशों में नवयुवक आज भी पुरातन मूल्यों व आदर्शों को नकारने लग गए हैं। इसका मतलब यह हुआ कि पीढ़ियों के बीच का अन्तर भी तेजी से बढ़ रहा है और जीवनगत मूल्यों तथा सामाजिक विवेक के क्षेत्र में इसके और भी अधिक बढ़ने की संभावना है। 'युवक आंदोलन' के परिणामस्वरूप नवयुवक जन (सामाजिक कार्यों और विधियों पर) अधिकाधिक अधिकार प्राप्त करेंगे। १९६० के वर्षों में पश्चिमी देशों में – विशेषकर के मध्यमवर्गीय शिक्षा में – प्रचलित मान्यता यह थी कि जब तक व्यक्ति अपनी अन्तिम शिक्षा पूरी नहीं कर लेता, वह अप्रौढ़, अविकसित व अनधिकारी (उदाहरण के लिए विद्यालय संचालन में सहभागीत्व के अधिकार से वंचित) होता है। स्कूली कार्यों और योजनाओं में क्रियात्मक सहयोग का यह निषेधात्मक पक्ष १९७० के वर्षों में ही कुछ ऐसे परिणाम उत्पन्न करेगा कि माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षा के अनेक क्षेत्रों में, आयोजना तथा निर्णयों के स्तर पर, छात्रों का प्रतिनिधित्व बढ़ जाएगा।

३.१.६ कार्यशील समुदाय

१९५० की दशाब्दी से 'शिल्पकार्यों' से हटकर 'सेवानिष्ठ कार्यों' की ओर जो प्रत्यावर्तन आरम्भ हुआ है वह और अधिक बढ़ेगा। अब कोई व्यक्ति किसी एक ही काम या कला की रूढ़ियों में बँधा नहीं रह सकता। शिल्पकार्यों में भी अब प्रवृत्ति यह होती जा रही है कि मानवीय श्रम को मशीनी तकनीकों से प्रतिस्थापित किया जाए और अधिकाधिक ऑटोमेशन लाया जाए। गए कल का श्रमिक आगामी कल का तकनीशियन होगा जो केवल निर्देशक व नियंत्रक का कार्य करेगा। आदमी से मशीन महँगी होती है और जो मशीन जिस तकनीशियन को सौंपी गई है, उसके बारे में उसे सब कुछ जानना अनिवार्य होगा। मशीनें भी आज की अपेक्षा कहीं अधिक महँगी होंगी।

सेवानिष्ठ कार्यों में अधिकतम संख्या शिक्षा और चिकित्सा क्षेत्रों में होगी। यों काफी

कुछ लोग अन्य कार्यों, जैसे; पर्यटन, मनोरंजन में भी संलग्न होंगे। ऐसी अनेक सेवाएँ जो पहले परिवार में स्वयं ही उपलब्ध की जाती थीं, वे अब बाह्य संगठनों द्वारा प्रदान की जाएँगी, जैसे, भोजन बनाना, कपड़े धोना, घर की साफ-सफाई, यातायात आदि। इनका प्रभाव कार्यशील समुदाय की गति-मति और कुशलता पर भी पड़ेगा। सेवानिष्ठ उद्योग मौखिक व लिखित साधनों से उपभोक्ताओं की सुहृदयता और उनका विश्वास अर्जित करने पर अधिक ध्यान देंगे। इसके लिए केवल मातृभाषा पर अधिकार पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि एक से अधिक विदेशी भाषाओं पर अधिकार करना आवश्यक हो जाएगा।

शिल्पकार्यों में नई तकनीकों के समावेश और दक्षता की मांग के कारण विशिष्ट कार्यों का व्यवसायीकरण भी होगा। कर्मचारी के लिए जितना कम काम होगा उतनी ही अधिक आवश्यकता वह इस बात की अनुभव करेगा कि अपनी सामान्य शिक्षा तथा / अथवा अपने विशिष्ट व्यवसाय का अनुभव वह बढ़ाए। इस प्रकार शिल्पात्मक उद्योगों में तकनीकीकरण तथा विद्युतीकरण के बढ़ते उपयोग से कर्मचारी की व्यक्तिगत योग्यता कुंठित नहीं होगी, न वह यंत्रों का दास बनेगा। इसके विपरीत मशीनें सरल कार्यों को शीघ्रतापूर्वक निपटाया करेंगी और जिन कार्यों में पेचीदे व विकल्पात्मक बौद्धिक व्यायाम की आवश्यकता होगी वे व्यक्तिनिष्ठ व्यावसायिक रूपों में पनपेंगे और विकसेंगे। द्रुतगति से बदलती हुई अर्थ-व्यवस्था-प्रणाली व्यावसायिक स्थिरता को संदिग्ध बना देगी। परिवर्तन की गति इतनी तीव्र है कि किसी व्यवसाय या तकनीक में आज दक्षता प्राप्त कर रहा व्यक्ति विश्वासपूर्वक यह नहीं कह सकता कि कल के युग में उसकी व्यावसायिक कुशलता का मूल्य वही रहेगा या नहीं। इस अस्थिरता के दो परिणाम निकल सकते हैं। एक तो यह कि वे मूलभूत कुशलताएँ जो सुनने, बोलने, पढ़ने, लिखने तथा गिनने से सम्बन्धित हैं और स्वाध्याय की योग्यता उत्पन्न कराने वाली हैं, अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाएँगी। दूसरे यह कि कुछ भिन्न-भिन्न विषयों से सम्बन्धित आधारिक ज्ञान की साधिकार-प्राप्ति आवश्यक मानी जाएगी; यानी परस्पर सम्बद्ध विषयों के मूलभूत सम्बोध, सिद्धान्त और पद्धतियों को सीखना अनिवार्य माना जाएगा। यह भी आवश्यक माना जाएगा कि 'सामान्य शिक्षा' के अन्तर्गत उन सभी महत्वपूर्ण विषयों का आधारिक ज्ञान सम्मिलित हो जो कार्यशील जीवन और उससे परे भी कुछ अपेक्षित योग्यताएँ विकसित कर सके। व्यक्ति के जीवन-क्रम में यह सामान्य बात हो जाएगी कि वह आवर्त्तक रूप से अपनी शिक्षा-दीक्षा का पुनर्नवीनीकरण करता रहे और कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में तो उसे पूर्णतया पुनर्प्रशिक्षण भी प्राप्त करते रहना होगा। यह अनुभव किया गया है कि सन् १९५० में जिस इंजीनियर ने शिक्षा प्राप्त की थी, आज दसेक वर्षों बाद ही वह उसे बहुत अधिक उपयोगी नहीं पा रहा है, किन्तु बुनियादी विज्ञान शिक्षा और सामान्य तकनालॉजी के रूप में उसने जो शिक्षा प्राप्त

की थी, वह उसे अब नयेपन को समझने-गुनने में बहुत सहायक हो रही है।

इस शताब्दी के अन्त तक निरपवादत: ऐसी तकनालॉजी से कार्यशील समुदाय प्रभावित होने लगेगा जिसमें मानवीय योग्यताओं को मशीनों के रूप में, सूचनालयों के रूप में, कम्प्यूटर प्रोग्राम के रूप में, पके-पकाए भोजन की भाँति ऐसे सुरक्षित रखा जा सकेगा कि आवश्यकतानुसार उसे तत्काल उपयोग में लिया जा सके। ऐसा लगता है कि जीवन-व्यापी शिक्षा कार्यशील जीवन के सर्व सामान्य तथ्य के रूप में प्रचलित हो जाएगी।

३.२. शिक्षा-पद्धति

३.२.१ संख्यात्मक विकास

परिवर्तित हो रहे समाज का उक्त चित्रांकन भावी शिक्षा की संभावनाओं को समझने की भूमिका मात्र है।

शिक्षा में दो विकास आप्तत: स्वीकार किए जाने योग्य हैं। विशेषत: उच्चतर शिक्षा में प्रवेश संख्या निरन्तर बढ़ती जाएगी और पूर्णकालिक शिक्षा के लिए अधिक वर्ष व्यतीत किए जाएँगे। छात्रों की बढ़ती संख्या और स्कूली जीवन की लम्बाई की दृष्टि से हम यह निश्चित संभावना अनुभव कर सकते हैं कि शिक्षा में संख्यात्मक विकास अकल्पनीय रूप से फलित होगा। नवयुवकों की शिक्षा की अपेक्षा प्रौढ़-शिक्षा (जिसे कि अब 'निरन्तर-शिक्षा' नाम भी दिया जाने लगा है) संभवत: अधिक व्यापक होगी। स्वीडन का उदाहरण लें तो वहाँ सन् १९५० की दशाब्दी 'विस्फोटक प्रवेश' की दशाब्दी रही है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव प्राथमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालयीय शिक्षा पर पड़ा है। उद्योग की मानव शक्तिगत आवश्यकताएँ, उच्चस्तरीय जीवन-क्रम आदि का प्रभाव यह होगा कि पचास प्रतिशत से अधिक नवयुवक उच्चतर शिक्षा प्राप्त करना चाहेंगे। संभवत: विश्वविद्यालयीय सीमा-रेखाएँ टूट जाएँगी और परिणामत: दो प्रकार के शिक्षा-स्वरूप उभरने लगेंगे – एक का सम्बन्ध व्यावसायिक स्नातक शिक्षा से होगा और दूसरे का वाचस्पति तथा उत्तर वाचस्पति स्तर पर अनुसन्धान-प्रशिक्षण से होगा।

३.२.२ आर्थिक उपपत्तियाँ

उन देशों में जहाँ कि शिक्षा का सम्पूर्ण व्यय राज्य-कोष से होता है, और जहाँ नवयुवकों के लिए अनुदान स्वरूप (क्योंकि वे अधिक समय तक अनुत्पादक बने रहते हैं, उसकी क्षतिपूर्ति स्वरूप) वृत्तियाँ भी देय मानी जाती हैं, इस प्रकार का विस्फोटक विकास राजकीय अथच राष्ट्रीय अर्थतन्त्र पर भारी दबाव डालता है। शिक्षा में चर्चित सभी प्रकार की तार्किक बातों और अनुसन्धान कार्यों की अर्थतंत्रात्मक दृष्टि-मति को इसी तथ्य के प्रकाश में देखना चाहिए। शिक्षा व्यवस्था पर किया जाने वाला अधिकतम व्यय अध्यापक पर होता है; अत: अधिकतम बचत भी इस मानव-शक्ति के सुविचारित प्रसार पर निर्भर करेगी। जो संस्थाएँ आर्थिक संकोचवश प्रतिबंधित प्रवेश की नीति पर चल रही हैं उन्हें भी अधिकाधिक प्रविष्टियों के अवसर खोजने होंगे। कुछ समय के लिए हमें यह वस्तुस्थिति स्वीकार करनी ही होगी कि हम गुणात्मकता की अपेक्षा संख्यात्मक विकास को प्राथमिकता दें (तथापि यह सब भी हम औसत गुणात्मक स्तर को बनाए रखते हुए ही करें)। हम यह भी कल्पना करें कि निकट भविष्य के विद्यालय, आज की तुलना में, अनेक संस्थात्मक लक्षणों में भिन्नता लिए हुए होंगे। जिन स्कूल भवनों के निर्माण तथा साज-सज्जा में भारी रकम लगती है, उन्हें निरन्तर तथा अधिकाधिक उपयोग में लेते रहना होगा। जिस परम्परित ढंग से हम उन्हें 'स्कूल भवन' के रूप में देखने के आदी हो गए हैं, उससे हटकर अब हमें उन्हें ऐसे 'सामुदायिक केन्द्रों' के रूप में प्रयुक्त करना होगा जो 'शिक्षण केन्द्र' भी होंगे, जहाँ बच्चे, नवयुवक, प्रौढ़ आदि न केवल शिक्षा प्राप्त करेंगे, अपितु वे उनके खेल, मनोरंजन, विश्राम, हॉबी, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि के केन्द्र भी होंगे।

शिक्षा-व्यय में शिक्षा-व्यवस्था पर होने वाले प्रत्यक्ष व्यय के साथ वह अप्रत्यक्ष व्यय भी सम्मिलित होता है जो नवयुवकों द्वारा उत्पादन के विकल्प में शिक्षा का चयन करने के कारण राष्ट्र को 'अवरुद्ध आय' के रूप में भोगना पड़ता है। यद्यपि यह प्रश्न विवाद-ग्रस्त है कि उक्त तथा अवरुद्ध आय को शैक्षिक-व्यय माना जाए या नहीं, तथापि इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि नवयुवक यदि आंशिकतया ही उत्पादन-कार्य में भाग लेते रहें तो वृहद् अर्थतंत्र के लिए शिक्षा का व्यय वहन कर पाना सरलतर हो जाएगा। इस तर्क की उपयोगिता उस स्थिति में और भी अधिक समझ में आती है जब विस्फोटक गति से नवयुवक पूर्णकालिक शिक्षा का चयन करते देखे जाते हैं। इस तथ्य से भी हम इनकार नहीं कर सकते कि हमारी शिक्षा-व्यवस्था का अधिकांश ऐसा है जिसे हम पूंजीगत नियोजन की कोटि में नहीं रख सकते वरन् जो शुद्धत: उपभोगात्मक है। अधिकतर औद्योगिक देशों में उपभोगात्मक शिक्षा वैध भी है और वहाँ के अर्थतंत्र का एक स्वत: सिद्ध परिणाम भी है; केवल रूस ने किन्हीं आर्थिक सामाजिक कारणोंवश किशोर तथा नवयुवकों के लिए शिक्षा और उत्पादन को अन्तर्ग्रथित करने का आदर्श प्रस्तुत किया है। वहाँ के नवयुवक कुछ दिन कारखानों और फार्मों पर व्यतीत करते हैं और कुछ दिन स्कूलों में। अधिक लम्बी शिक्षा के साथ उत्पादन का समय भी उतना ही अधिक बनाने की प्रवृत्ति वहाँ फलित हुई है। उन्होंने (रूसियों ने) प्रौढ़ शिक्षा (या निरन्तर शिक्षा) पर भी सम्पूर्ण बल लगा दिया है और वहाँ की रात्रि कक्षाएँ या वहाँ के पत्राचार कार्यक्रम उन व्यक्तियों द्वारा भरेपूरे होते हैं जो दिन भर कार्य करने के बाद वहाँ शिक्षा प्राप्त करने आते हैं।

३.२.३ शैक्षिक काल का वितरण विस्तार

अब बुनियादी सामान्य शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण और निरन्तर शिक्षा (पुनर्प्रशिक्षण)

के बीच एक भिन्न संतुलन स्थापित करने की कल्पना की जा सकती है। परम्परित मान्यता यह है कि अधिकतम शिक्षा जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ही केन्द्रित की जाए; शाला-प्रवेश न्यूनतम संभव आयु में आरम्भ कर दिया जाए। संयुक्त राज्य अमेरिका में तो इस बात पर चर्चा आरम्भ हो गई है कि यदि ३-४ वर्ष की आयु से ही बच्चों को लिखना-पढ़ना सिखाया जाए तो उससे क्या-क्या लाभ हो सकते हैं ?

ऐसी योजना की कल्पना की जा सकती है कि अनिवार्य शिक्षास्तर के बाद भी प्रत्येक नागरिक को अप्रतिबंधित शिक्षा-प्राप्ति का आश्वासन मिल सके। ऐसी स्थिति होने पर व्यक्ति को सोचना होगा कि वह अपने ढंग की शिक्षा एक ही दौर में प्राप्त करले या उसे अपने जीवन काल (कार्यकारी जीवन के साथ-साथ) पर वितरित करले। उदाहरण के लिए, कुछ किशोर १६ वर्ष की आयु तक पहुँचते न पहुँचते स्कूल से ऊब जाएँगे और माता-पिता की इच्छा के विपरीत भी स्कूल छोड़ देना पसन्द करेंगे। यह जानते हुए कि शिक्षा-प्राप्ति के अवसर आगे भी उन्हें उपलब्ध रहेंगे, वे अपने लिए कार्यशील जीवन चुन सकेंगे और अनुभव तथा प्रौढ़ता के साथ-साथ वे पुनः सोद्देश्य शिक्षा भी प्राप्त कर सकेंगे। यद्यपि २० वर्ष की आयु के पश्चात् की शिक्षा को निरुत्साहित करके काफी कुछ बचत की जा सकती है क्योंकि उत्पादक प्रौढ़ों का अधिक महत्व उनके अधिकाधिक उत्पादन-रत होने में निहित है और यों भी प्रति प्रौढ़ व्यक्ति शिक्षा का व्यय स्कूली व्यय से अधिक भी होता है तथापि यह भी विचारणीय है कि अनुत्प्रेरित किशोरों एवं नवयुवकों की अपेक्षा प्रौढ़ों की शिक्षा में समय तथा शिक्षण का व्यय कम होता है और उनका शिक्षण प्रभावकारी होता है। प्रौढ़ शिक्षार्थी अपने अध्ययन का महत्व समझते हैं, अपेक्षाकृत अच्छी योजना बना सकते हैं और बिना परिवीक्षण के भी स्वयं ही बहुत कुछ कर भी लेते हैं। यहाँ ऐसा कोई प्रयत्न उद्दिष्ट नहीं है कि विद्यालय-संगठन की किसी भावी स्थिति का लक्षणपरक रूपरेखांकन किया जाए। अधिक से अधिक यहाँ यही किया जा सकता है कि उन विकासात्मक लक्षणों का निरूपण मात्र कर दिया जाय जो भविष्य में या तो परिपुष्ट होंगे अथवा प्रतिहत होंगे। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, भविष्य में हम बच्चों और नवयुवकों की स्कूली शिक्षा तथा आर्थिक तंत्र में उनकी उत्पादनशीलता के बीच मान्य विभेद को छोड़ देने की कल्पना कर सकते हैं और शैक्षिक काल के एक भिन्नतया वितरण की संभावना अनुभव कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, स्वीडन में स्थानीय स्वायत्त शासन द्वारा संचालित संस्थागत प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों ने (उन्हें उन अनौपचारिक प्रौढ़शिक्षा आन्दोलनों से भिन्न समझना चहिए जो कार्यशील युवक आंदोलन या नशाबंदी आंदोलन की प्रतिपत्तियों के रूप में प्रचलित हुए हैं,) सिद्ध कर दिया है कि 'कार्यशील जीवन' और 'स्कूली-शिक्षण' के बीच न्यस्त कृत्रिम विभेद का परीक्षण-काल अब आगया है। और यह अब प्रायः निर्वि-

वाद हो गया है कि केवल 'पूर्णकालिक कार्य' या 'पूर्णकालिक शिक्षा' की एकान्तिक स्थिति अब बनी नहीं रह सकती। अब ये दोनों प्रवृत्तियाँ अभेदता के साथ नियोजित होंगी, कुछ दिनों के कुछ अंश या कुछ दिन 'स्कूल' कही जाने वाली संस्था में व्यतीत होंगे और शेष समय समानान्तर रूप से उत्पादक-कार्यशालाओं में व्यतीत होगा।

३.२.४ भावी शिक्षा के स्रोत

भावी शिक्षा-व्यवस्था के रूपांकन में भागीदार स्रोत क्या-क्या होंगे ? अपने परम्परित अर्थों में स्कूल तब भी प्रभावशाली संस्था बनी रहेगी। तथापि उसका उपयोग **सभी-आयु-वर्गों** के लिए होगा और उसके मानवीय शक्ति स्रोतों में परम्परा से परिभाषित अध्यापकों के अतिरिक्त जीवन के विविध-क्षेत्रों के विशेषज्ञ, विविध व्यवसायों के दक्ष व्यक्ति, शासनाधिकारी और राजनीतिज्ञ भी सम्मिलित होंगे। 'आवासीय स्कूल' और शिविर 'स्कूल' संभावित रूपान्तर होंगे। अभी भी बाधितजनों व बाल अपराधियों के लिए शोधन स्कूलें विद्यमान हैं। यह विचार करते हुए कि बनिस्बत इसके कि घरों में पलते हुए बालक सामाजिक अपराध वृत्ति से ग्रस्त हों और उनके लिए अन्य सुधारात्मक उपाय किए जाएँ, समाज के हित में आवासीय स्कूलें चलाना, दिवस कालीन स्कूलों की अपेक्षा कहीं अधिक सस्ता होगा। शिविर स्कूलों में अल्प-कालिक कक्षाओं के माध्यम से अध्यापकों व छात्रों में शैक्षिक सम्बन्ध व्यापक रूप से स्थापित हो सकेंगे और पूर्व स्थापित सम्बन्धों को दृढ़ किया जा सकेगा। संस्थागत स्कूलों के साथ-साथ सांस्कृतिक प्रसार के लिए लोक-संचार के साधन भी होंगे। स्कूली शिक्षण में भी उनका अधिक से अधिक उपयोग होगा। संभावना तो यह है कि घर पर बैठे हुए ही औसत छात्र रेडियो या टेलिविज़न कक्षाओं में उतना ही समय व्यतीत करेगा जितना कि वह स्कूल में अध्यापकों के सान्निध्य में करता।

आस्ट्रेलिया तथा सोवियत रूस जैसे कुछ देशों में नवयुवकों के लिए पत्राचार पाठ्यक्रमों का बहुत महत्व रहता आया है, किन्तु उनका महत्व प्रौढ़-शिक्षा के लिए भी कम नहीं है जैसा कि स्वीडन में स्वीकारा गया है। जिस अनुपात में कम्प्यूटरी-शिक्षण में वृद्धि होगी और अभ्यास मालाओं के व्यक्तिकरण तथा मूल्यांकन की विधियाँ विकसित होंगी, उसी अनुपात में इस पत्राचार-क्रम की प्रभावशीलता बढ़ेगी।

उन छोटे देशों में जहाँ कि किसी एक विश्व-भाषा पर अधिकार नितान्त आवश्यक और एक या दो अन्य भाषाओं का ज्ञान स्पृहणीय माना जाता है, स्कूलों का अधिकांश समय तथा श्रम विदेशी भाषाओं पर व्यय होता है। माध्यमिक स्तर पर अब ऐसे प्रयोग भी हो रहे हैं जिनमें कि विदेशी भाषा-शिक्षण को अंशतः उस मूल देश में ही सम्पन्न करने की चेष्टा होती है। विवर्धमान संचार और यातायात की सुविधा के कारण, बहुत अधिक संभावना तो यह है कि न केवल भाषा के लिए अपितु अन्य महत्वपूर्ण विषयों के लिए भी देशान्तर-शिक्षण प्रणाली का अधिकाधिक विस्तार होगा और उनके शिक्षण के लिए

छात्रों को काफ़ी लम्बे समय तक विदेशों में रहना भी होगा।

यूरोप में सन् १९५० की दशाब्दी से ही व्यापारी-समुदाय ने शिक्षा और स्कूलों के सुधार-कार्यक्रम में रुचि दिखाई है। कुछ देशों में (जैसे, जर्मन गणतन्त्र में) वस्तुतः व्यापारीवर्ग ही स्कूलों के पुनर्निर्माण, समुन्नयन आदि में अभिनेतृत्व कर रहा है। तथापि, अभी तक स्कूली-शिक्षा और व्यापार-स्थलीय शिक्षा के ढंग में बहुत अन्तर विद्यमान है। अब प्राथमिकता का विषय यह होगा कि व्यापारी-वर्ग द्वारा अनुस्यूत उन तमाम कार्यक्रमों की शैक्षिक संभावनाओं की खोज की जाए ताकि नवयुवक शिक्षार्थियों को कार्यशील जीवन का क्रियात्मक अनुभव दिया जा सके और वे अपने अध्ययन का औचित्य स्वयं ही अनुभव कर सकें। बहुत अधिक संभावना तो यह है कि, जैसे स्वीडन में १९५० के वर्षों में प्रयोगात्मक रूप से विकास का एक नया मार्ग खोला गया था-तब जबकि वहाँ कुछ चुने हुए नवयुवकों को कार्यानुभव के माध्यम से व्यवसायों में काम करते हुए वास्तविक व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया गया था (और बाद में उसे सभी नवयुवकों पर लागू कर दिया गया था)-वह और अधिक लोकप्रिय होगा ताकि जो भी किशोर अंशकालिक प्रणाली से शिक्षा प्राप्त करना चाहें वे कुछ समय स्कूल में तथा शेष व्यवसाय में व्यतीत करते हुए वैसा भी कर सकें।

३.२.५ भावी स्कूलों की कार्य-प्रणाली

इस शताब्दी के अन्त की स्कूलों में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होगा वह उनकी कार्य-प्रणाली से सम्बन्धित होगा। कुछ क्षेत्रों में तो ज्ञान-प्राप्ति की पद्धति सर्वथा भिन्न चित्र ही प्रस्तुत करेगी।

(१) अधिगम पर ही विशेष बल दिया जाएगा, शिक्षण पर नहीं। आजकल तो स्कूलों की कार्य-प्रणाली इस मान्यता पर आधारित होती है कि 'अधिगम' का पूर्व-पक्ष 'शिक्षण' होता है। किन्तु जैसे-जैसे यह प्रत्याभिज्ञान विकसित होता जाएगा कि ये दोनों प्रवृत्तियाँ ससमान नहीं हैं बल्कि कभी कभी शिक्षण उत्पादक या सृजनात्मक अधिगम में बाधक भी होता है; वैसे-वैसे शिक्षण में मितव्ययिता लाकर उसे मात्र सोद्देश्य बनाने की प्रवृत्ति पनपेगी। अध्यापक का अत्यावश्यक दायित्व यह है कि वह अपने कार्य को प्रभावात्मक ढंग से वितरित व व्यवस्थित करे।

(२) श्रम में मितव्ययिता लाने वाली विधाओं तथा सुविधा-साधनों का स्कूलों में बहुलता के साथ प्रचार होगा। इन साधनों में 'हार्डवेयर' तथा 'सॉफ़्टवेयर' दोनों ही प्रकार के-यथा, प्रोजेक्टर, टेपरेकार्डर, अध्यापन-मशीनें आदि तथा प्रकाशित सामग्री जैसे, अभ्यास पुस्तिकाएँ, अभ्यास कार्ड, प्रोग्रामाधृत पाठ्य-पुस्तकें आदि-साधन सम्मिलित होंगे। अब तक उद्योगों में सम्पादित हुए प्रौद्योगिक विकास के प्रति स्कूलें अनुत्तरित रही हैं, किन्तु अब वे मौन नहीं रह सकेंगी।

(३) यद्यपि स्कूलों में विषयाधृत पाठ्यक्रमों (जैसे, इतिहास, भूगोल) पर से अधिभार हटेगा और कुशलतालक्ष्यी विषयों पर (जैसे, मातृभाषा व गणित) वह बढ़ेगा तथापि ज्ञान का परिमाणलक्ष्यी भार कम नहीं होगा। इसका तात्पर्य यह होगा कि छात्रों को स्वाध्याय और ज्ञान के स्व-अर्जन की प्रक्रियाओं में दक्ष करना होगा जिससे भविष्य में स्वप्रेरित स्वतंत्र चिन्तन का विकास संभव हो सकेगा।

(४) कक्षा व्यवस्था (सभी विषयों के लिए) के प्रति अनास्था के साथ-साथ कार्य-संगठन की नई प्रणाली विकसित हो रही है जिसमें शिक्षणशैली के अनुकूल लोचदार कार्य-वर्गों के निर्माण की सुविधा रहेगी। शिक्षण की वे शैलियाँ क्या होंगी, जो भविष्य के स्कूलों में बहुलता के साथ प्रयुक्त होंगी? हम लोग अभी से क्रमशः शाला-संगठन की उस दिशा में आगे बढ़ रहे हैं जिसमें कक्षा-गत विभाजन तथा कक्षा-प्रोन्नति का सिद्धान्त अपना महत्व खो चुका है: जिसमें विषय-ग्रुप का निर्धारण अध्यापन-शैली के अनुसार होने को है और जिसमें एक-एक छात्र को अपने विषय के अनेकानेक शिक्षकों से सामना करना होगा। इस समय छात्रों का कक्षावार विभाजन, आयु-वर्ग के अनुसार कक्षा-निर्माण, वर्ष में एक ही बार सभी विषयों में प्रोन्नति के आधार पर कक्षा-प्रोन्नति, विभेदात्मक मनोविज्ञान के तथ्यों के भी प्रतिकूल पड़ते हैं। छात्रों में व्यक्तिगत अन्तर कक्षा एक से ही प्रत्यक्ष होने लगते हैं और वे निरन्तर अधिकाधिक सुस्पष्ट होने लगते हैं चाहे उनकी कक्षा-प्रोन्नति हो या न हो। अकादमिक योग्यता के अन्तर कुल व्यक्तिगत अन्तरों का केवल न्यूनतर अंश ही हो सकते हैं इसलिए छात्र के मापन का वैध आधार वह नहीं हो सकता। भविष्य में अतः, छात्रों के ग्रुपिंग इस ढंग से किए जाएँगे कि उनमें कक्षा विभाजन, या कट्टर-पंथिता न रहे। हमने ऐसी कार्य-प्रणाली की ओर प्रारंभिक कदम उठा लिए हैं जिसमें कक्षा की साइज का निर्णय इस आधार पर होगा कि उसमें शिक्षण की विधि क्या अपनाई जा रही है? यदि कक्षा में एक तरफा प्रसारण-कार्य अभीष्ट हो तो एक सौ या उनसे अधिक छात्रों की भी एक कक्षा बन सकती है। यदि उसमें शिक्षक के नेतृत्व, शिक्षक व छात्र तथा छात्रों के बीच आदान-प्रदान अभीष्ट हो तो कक्षा १०-१२ छात्रों से अधिक की नहीं हो सकेगी। कई देशों में किए गए विश्लेषणों से ज्ञात हुआ है कि औसत रूप से अध्यापक अपनी कक्षा में कम से कम आधा समय बोलने, प्रदर्शन करने, फिल्में चुनने, जाँचलेने या परिवीक्षण करने तथा ऐसे ही अन्य कामों में व्यतीत करता है जो कक्षा आदि के औचित्य की दृष्टि से असम्बद्ध होते हैं। शिक्षण में बड़े ग्रुप की स्थिति के तीन कार्य हो सकते हैं: छात्रों को उत्प्रेरित करना, विषय-वस्तु तथा अभ्यास-कार्य का परिचय कराना और छात्रों द्वारा व्यक्तिशः किए गए कार्य पर टिप्पणी करना। छोटे ग्रुपों की कार्य-प्रणाली का उद्देश्य सामूहिक विचार-विमर्श के अवसर देना, विश्लेषणात्मक कौशल का विकास करना और तर्कपूर्ण वादानुवाद तथा आदान-प्रदान की वृत्ति का विकास करना होता है। छोटे ग्रुप की

कार्य-प्रणाली, ग्रतः, समाजीकरण के विचार से केन्द्रीय महत्व की प्रणाली होगी। स्वतंत्र तथा स्वायत्त कार्य व्यक्तिशः समस्या-समाधान ग्रौर विविध कुशलताग्रों के प्रशिक्षण से सम्बन्धित होता है, जैसे, विदेशी भाषाएँ सीखना। कार्य-प्रणाली के संगठन का तीसरा रूप वह है जिसे 'टीम टीचिंग' कहते हैं। यह प्रतीति की जाने लगी है कि किसी स्तर पर किसी एक विषय या कई विषयों के शिक्षण का पूरा दायित्व किसी एक ग्रध्यापक पर छोड़ देना विवेक सम्मत नहीं है। एक टीचिंग टीम में न केवल मुख्य ग्रध्यापक तथा ग्रन्य ग्रध्यापक होते हैं बल्कि कई सहायक – जो कि छात्र (ग्रध्यापक) भी हो सकते हैं, लिपिक तथा गृहिणियाँ ग्रादि भी उसमें सदस्य-स्वरूप सम्मिलित हो सकते हैं। इस प्रकार एक टीचिंग टीम किसी विषय के विविध पक्षों पर ग्रधिकारी व्यक्तियों द्वारा साधिकृत ज्ञान उपलब्ध कराने की प्रणाली है।

स्कूल की कार्य-प्रणाली में संभवतः जो सबसे ग्रधिक गतिशील रूपान्तर होगा वह शिक्षण के प्रायः पूर्ण व्यक्तीयन का होगा ग्रौर ग्रध्यापक के प्रयत्न भी संभवतः इसी बिन्दु पर केन्द्रस्थ होंगे। ग्रध्यापक, तब एक ऐसा व्यक्ति होगा जो प्रत्येक छात्र की स्थिति का निदान करेगा, जो इस बात का ध्यान रखेगा कि प्रत्येक छात्र के लिए सुसम्बद्ध तथा ग्रभीष्ट विषय-सामग्री तथा / ग्रथवा ग्रनुभवों का नियोजन हो पाता है तथा जो छात्र के व्यक्तिगत विकास ग्रौर उपलब्धियों का लेखा रखेगा। प्रत्येक प्रकार के शिक्षण का लक्ष्य होगा छात्र की तत्सम्बन्धी चरम शक्ति का उपयोग संभव बनाना।

यानी भविष्य के शिक्षण कार्यक्रम का ग्रादर्श है सम्पूर्ण व्यक्तीयन। यदि प्रसन्नता की स्थिति में शैक्षिक ग्रनुसंधित्सु ग्रध्यापक को ऐसे चिकित्सक के रूप में देखे, जो ग्रपनी ग्रोर से निदान करने के बाद छात्र के लिए कोई उत्तम नुस्खे (शैक्षिक कार्यक्रम) लिख दे ग्रौर उसे निर्देश दे दे कि किसी शैक्षिक फार्मेसी से (पुस्तकालय या केन्द्रीय भण्डार से) स्तरीकृत प्रोग्रामों का वह ग्रध्ययन कर ले, तो वह संभवतः कोई गलती नहीं करेगा। कोई यह भी समझ सकता है कि स्कूलों में व्यवहारतः दी जाने वाली शिक्षा यदि 'बीयर' के समान होगी तो इस प्रकार की व्यक्तीयन की शिक्षा 'शैम्पेन' की तरह होगी। इस दृष्टिकोण से हमें प्रभावित होने की ग्रावश्यकता है क्योंकि भविष्य की शिक्षा का उद्देश्य प्रत्येक छात्र को व्यक्तिगत निर्देशन की वह सुविधा उपलब्ध कराना है जो किसी समय सम्भ्रान्त कहे जाने वाले लोगों के लिए ही सीमित थी। क्यों न हम मेसेडोनिया के फिलिप की स्पर्धा करें जो ग्रपने बच्चे ग्रलैक्ज़ेण्डर के लिए एरिस्टॉटल दे पाया था!

ग्रनु – **पुरुषोत्तमलाल तिवारी**

●

४

पूर्व-विद्यालय, युवा-विद्यालय एवं प्रौढ़ शिक्षा : संरचना एवं प्राथमिकता की समस्याएँ

४.१. प्रस्तावना

१९६० के दशक के मध्य तक स्वीडन में शैक्षिक चर्चा एवं सुधार केवल युवकों के विद्यालयों तक ही सीमित थे। १९६२ के शिक्षा एक्ट के द्वारा नववर्षीय बुनियादी विद्यालयों के सामान्य ग्राविर्भाव से विद्यालयी ग्रायु के सभी नवयुवकों को शिक्षा के समान ग्रवसर प्रदान किये गये। बुनियादी विद्यालयी सुधार द्वारा जो ज्ञान विस्फोट हुग्रा उससे तारतम्य बिठाने की दृष्टि से ग्रगले ग्रायुवर्ग के युवकों को नये एवं ग्रधिक विस्तृत ग्रवसर प्रदान करने की दृष्टि से १९६४ के जिमने-जियम एवं व्यावसायिक विद्यालयों के सुधार एवं १९६९ के उच्च माध्यमिक विद्यालयों के सुधार वास्तव में १९६२ के शिक्षा प्रस्तावों का ग्रनुगमन कार्य ही था।

१९५० व १९६० के दशकों में नवयुवक पीढ़ी को शैक्षिक ग्रवसरों की समानता प्रदान करने की दिशा में जो यथेष्ट विस्तार हुग्रा उसका परोक्ष ग्रर्थ यही है कि नई पीढ़ी एवं

वृद्ध पीढ़ी की शिक्षा के बीच में बड़ा अन्तर विद्यमान था। इसके साथ ही सामाजिक परिवर्त्तनों एवं अर्थतन्त्र में परिवर्त्तनों का अभिप्राय था कि कार्य करने वाले प्रौढ़ लोगों के लिये उच्चतर योग्यता वाली शिक्षा प्राप्त करना अधिकाधिक आवश्यक हो गया था जिससे वे अपने व्यवसाय में आये परिवर्त्तनों से तारतम्य बिठा सकें अथवा पूर्ण पुनर्शिक्षण प्राप्त कर सकें। बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क, जिनका माध्यम जनसम्पर्क एवं यात्रा मुख्य था तथा जिसके परिणाम-स्वरूप व्यक्तियों के अनुभव-क्षितिज विस्तृत हुए, के कारण वृहत्तर संसार में ज्ञान संस्थापन की तुरन्त आवश्यकता का अनुभव हुआ। इसके कारण अधिक उत्तम सामान्य शिक्षा की मांग बढ़ी। इस प्रकार १६६० के दशक में जब प्रौढ़ शिक्षा की समस्या उठी तो उसका कारण समानता की प्रेरणा ही नहीं थी, वरन् यह भी थी कि व्यक्ति परिवर्त्तनशील परिस्थितियों से अपने को व्यवस्थित करने हेतु अधिकाधिक शिक्षा वांछनीय समझते थे। इसके पूर्व प्रौढ़ शिक्षा अपनी सीमित मात्रा में, लोकप्रिय शिक्षा के रूप में, लोकप्रिय आन्दोलनों द्वारा संस्थापित शिक्षासंघों द्वारा ही संचालित होती थी। इस प्रकार की प्रौढ़ शिक्षा के दो मुख्य उद्देश्य रहे हैं– प्रथम तो आन्दोलन के वक्ताओं को राजनैतिक एवं प्राविधिक प्रश्नों पर प्रशिक्षण देना तथा द्वितीय उद्देश्य था सामान्यजन को विस्तृत सामान्य शिक्षा देना जिसे वे लोग अपने विद्यालयी जीवन में प्राप्त नहीं कर सके थे और साधनहीन प्राथमिक विद्यालय को शिक्षा से अधिक ज्ञान नहीं ले सके थे।

परम्परागत शिक्षा क्षेत्र, दीर्घकाल तक, प्रौढ़ शिक्षा द्वारा शैक्षिक योग्यता प्रदान करने के प्रश्न पर विरोधी नहीं तो उदासीन अवश्य रहे थे। म्यूनिसिपल प्रौढ़ शिक्षा पद्धति ने, जिसकी उत्पत्ति विद्यार्थियों के सामाजिक कल्याण हेतु जिमनेजियम के प्रतिवेदन से हुई, सर्वथा नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं। यह नवीन प्रक्रिया शीघ्र ही विकसित हुई तथा परम्परागत लोकप्रिय शिक्षा की स्थानापन्न बनने लगी। स्वीडिश व्यापार संघों के महासंघ ने अपने प्रतिवेदन में अध्ययन के पश्चात् योग्यता प्रदान करने के महत्व को स्वीकार किया तथा प्रौढ़ शिक्षा में अधिकाधिक पूंजी लगाने का राजनैतिक समर्थक हो गया। युवकों के विद्यालय सुधार की क्रियान्विति में अधिक साधन लगाये गये तथा और अधिक की अपेक्षा की गई। प्रति छात्र प्रतिवर्ष की लागत धनराशि तेजी से बढ़ी तथा परिणाम यह रहा कि शिक्षा में व्यय राशि यथेष्ट हो गई तथा युवकों के विद्यालयों में पिछले दिनों नवीन सुधारों का क्षेत्र सीमित हो गया। राजनैतिक समर्थन के साथ व्यय हेतु धन वृद्धि की नवीन मांगें की जा रही हैं। प्रौढ़ शिक्षा, जिसे समानता-प्रोत्साहक सुधार समझा जाता रहा है, तेजी से विस्तृत होती रही तथा नवीन साधनों की अपेक्षा करती रही। दिन में उपलब्ध नर्सरी सुविधा पर विचार हो रहा है तथा अनिवार्य पूर्व-विद्यालयी शिक्षा प्रारम्भ करने के समर्थन में मांगें उठ रही हैं। इन प्रस्तावों का समर्थन इस बात से भी होता है कि लोग इस बात से विज्ञ होते जा रहे हैं कि सामान्य विद्यालय में परिवेश सम्बन्धी कठिनाइयों एवं असफलता का उद्गम प्रारम्भिक आयु में होता है जबकि बालक विद्यालय में जाना प्रारम्भ करता है। सर्व साधारण हेतु पूर्व-विद्यालयी प्रबन्ध की स्थापना से अधिक समानता के प्रसारण में सहायता मिलेगी।

इस अध्याय में नवयुवक विद्यालय एवं प्रौढ़ शिक्षा की तुलनात्मक स्थिति पर पहिले विचार करेंगे। इन दोनों का सम्बन्ध एक मौलिक रूप से स्थापित किया गया है। यू ६८* के प्रस्ताव आवर्त्तक शिक्षा (Re-current education) द्वारा। तत्सम्बन्धी विचार एक विचारपत्र में प्रस्तुत किये गये हैं जिसका शीर्षक है, "उच्चतर शिक्षा–इसकी रचना एवं कार्य"।

४.२. आवर्त्तक शिक्षा (Recurrent Education)**

४.२.१. आवर्त्तक शिक्षा (Recurrent Education) क्यों ?

आधुनिक काल में आवर्त्तक शिक्षा (Recurrent Education) शब्दावली विचार-विमर्श में बहुधा प्रयुक्त की गई है। इसका मिलाजुला ही स्वागत हुआ है। कुछ की मान्यता है कि इसमें नवीन कुछ नहीं है, हम दीर्घ काल से बहुउद्देशीय संश्लिष्ट प्रौढ़ शिक्षा देते आये हैं, दीर्घ अवधि से श्रम-बाजार अनवरत शिक्षा (continuous training) पर विश्वास करते आये हैं तथा श्रमिक अपनी उच्चतर शिक्षा हेतु पुनर्शिक्षण प्राप्त करते रहे हैं। अन्य लोग आवर्त्तक शिक्षा (recurrent education) में प्रभावी नवीनता पाते हैं तथा कुछ लोग इसमें संस्कृति को खतरा देखते हैं, तथा समझते हैं कि इससे विश्वविद्यालयी शिक्षा का स्तर गिरेगा, निर्यात व्यापार मात्रा की प्रतिद्वंद्विता को खतरा होगा तथा नवयुवकों को अनिवार्य कार्य-सेवा देनी होगी। कुछ अन्य लोग इससे भावी शिक्षा आयोजन का मार्ग प्रशस्त पाते हैं, जिससे आधुनिक प्रजातांत्रिक संस्कृति सशक्त होगी जो आर्थिक विकास हेतु परम-आवश्यक है।

आवर्त्तक शिक्षा (Recurrent education) के प्रस्ताव की पृष्ठभूमि में विचारधारा नवीन नहीं है। पहिले के शैक्षिक विचार-विमर्श से इससे परिचय मिल चुका है। वहाँ इसे समग्र शिक्षा के भिन्न अवयव के रूप में अभिव्यक्त किया गया था जिसका मुख्य आधार नवयुवकों की शिक्षा का आंतरिक परिवर्त्तन एवं विकास था। यू ६८ जिस विचार-विमर्श का प्रारम्भ करना चाहता था वह यह कि क्या सभी शैक्षिक योजना का आधार परिवर्तित करना चाहिये, क्या आवर्त्तक शिक्षा सर्वतोप्रमुख हो जावे तथा साथ ही साथ इस दृष्टि से भी विचार करना कि नवयुवक की शिक्षा का क्षेत्र एवं दिशा क्या हो। यदि

* यू ६८ अथवा १६६८ शिक्षा आयोग की नियुक्ति इस उद्देश्य से की गई थी कि जिससे १६७० के दशक की शिक्षा के क्षेत्र, संगठन एवं उत्तर जिमनेजियम विद्यालयी (post gymnasial) शिक्षा की स्थिति के सम्बन्ध में सर्वेक्षण कर सकें।

** विभागाध्यक्ष गुन्नार बर्जेन्डल द्वारा।

आवर्तक शिक्षा इतनी अद्यतन क्रान्तिकारी है जैसी कि इसके समर्थक एवं विरोधी दोनों ही समझते हैं, तो यह सुधार रात्रिभर में नहीं हो सकता। वास्तव में एक स्थिति की अपेक्षा यह दृष्टिकोण (trend) अधिक है जो कि समग्र निर्णय या सुधार को इंगित करता है।

शिक्षा के नये दृष्टिकोण की आवश्यकता को कई कोणों से देखा जा सकता है। पहिले परिमाणात्मक समायोजन की समस्याओं का वर्णन है क्योंकि मापन समस्या आज की परिस्थितियों में महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

शिक्षित जन-शक्ति की समाज को आवश्यकता सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ समायोजन के आधारस्वरूप बहुत अविश्वसनीय सिद्ध हुई हैं। क्या शिक्षा एवं लाभप्रद रोजगार के योजनाबद्ध स्तरीकरण से यह सम्भव है कि अल्प अवधि की आवश्यकताओं की भविष्यवाणी की कमी में सहायता मिल सके तथा शिक्षा एवं रोजगार में अधिक अच्छी पारस्परिक समायोजना बनाई जा सके? अपरिवर्तनशील समाज की अपेक्षा, तीव्रगति से परिवर्तित समाज में, नवयुवकों एवं प्रौढ़ों को अधिकाधिक शैक्षिक सुविधायें प्रदान करनी होंगी। नवीन पीढ़ी में शैक्षिक समानता उत्पन्न करने के प्रयत्नों से प्रेरणा मिलेगी, परन्तु आर्थिक कारण भी यथेष्ठ प्रेरणास्पद होंगे। नवयुवकों की शिक्षा में दीर्घकालीन पूंजीनिवेश को अल्प अवधि के प्रौढ़ शिक्षा पूंजीनिवेश के दृष्टिकोण से देखना चाहिये।

आवर्तक शिक्षा को व्यक्तिगत दृष्टिकोण से भी देखना चाहिये।

समाज के वास्तविक महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों में एक उद्देश्य है व्यक्ति को चयन स्वतन्त्रता देना। आवर्तक शिक्षा का उद्देश्य शिक्षा एवं लाभप्रद रोजगार में चयन स्वतन्त्रता अधिकाधिक देना है तथा व्यक्ति शिक्षा या रोजगार के क्षेत्र में यथेच्छा परिवर्तन कर सकता है। इससे प्रत्येक व्यक्ति के लिए रोजगार के चयन में भी अधिक स्वतन्त्रता पर बल दिया गया है।

उस शिक्षा या लाभप्रद रोजगार में व्यक्ति को अधिक सन्तोष प्राप्त होगा जिसमें शिक्षा व रोजगार का पारस्परिक रूप में सह सम्बद्ध या पूर्ण विलीनीकरण तक हो। चयन स्वतन्त्रता के सन्तोष के अतिरिक्त विस्तृत अनुभव की की पृष्ठभूमि के कारण भी सन्तोष प्राप्त होगा।

उपरोक्त बिन्दु से प्रकट होता है कि यदि आवर्तक शिक्षा के ढाँचे में शिक्षा की समायोजना की जावे तो अनेक विशद् समस्याओं का पूर्वापेक्षा अधिक प्रभावी समाधान हो सकता है।

साधनों का अधिक प्रभावी उपयोग, छात्रों की अधिक प्रेरणा द्वारा, तथा नवयुवकों एवं प्रौढ़ों के शिक्षा साधनों की निरन्तर समीक्षा का अवसर आवर्तक शिक्षा के अतिरिक्त लाभ हैं। इससे व्यक्ति एवं समाज की शिक्षा से अपेक्षाओं तथा शिक्षा व समाज की पारस्परिक अपेक्षाओं का भी प्रभावी मूल्यांकन सम्भव है। विस्तार एवं विषयवस्तु दोनों ही के लिये यह सत्य है। क्या हम आशा करें कि आवर्तक शिक्षा द्वारा व्यवसाय हेतु व्यक्ति का सुशिक्षण होता है तथा व्यवसायरत रहते हुए उसका विकास सम्भव है।

इस प्रकार सामान्य शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा एवं औद्योगिक शिक्षा का पारस्परिक अन्तर न्यून हो सकेगा तथा सामाजिक स्तरीकरण में शिक्षा की साधनरूप उपयोग की स्थिति निर्णयात्मक रूप से परिवर्तित होगी।

४.२.२. आवर्तक (Recurrent) शिक्षा का संगठन

यहाँ भी कुछ मुख्य बिन्दुओं की चर्चा करेंगे। यह निर्णय करना कठिन है कि क्या प्राथमिक है तथा क्या माध्यमिक। अवधि दृष्टिकोण का निर्देश होना चाहिये। आवर्तक शिक्षा में दोनों महत्वपूर्ण प्रश्न तथा दीर्घकालीन समायोजन की समस्यायें अधिक आवश्यक एवं तात्कालिक हैं। पहिले हम दीर्घावधि के प्रश्नों पर विचार करेंगे। यह विश्वास करना चाहिये कि सम्बन्धित व्यक्तियों में से अधिकांश ने ग्यारह वर्षीय विद्यालयी शिक्षा सम्पूर्ण कर ली है अथवा करने वाले हैं। प्रौढ़ शिक्षा के विभेद का बिन्दु इस दिशा में शनैः शनैः विचलित हो रहा है।

उदाहरणार्थ विश्व विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में वे छात्र प्रवेश लेते हैं जिनके अनुभव एवं पूर्व ज्ञान की पृष्ठभूमि भिन्न-भिन्न होती है। इस ओर अधिकाधिक बल दिया जा रहा है कि शिक्षा को व्यक्तियों की इच्छाओं एवं योग्यताओं के अनुरूप बनाया जावे।

जिमनेजियम विद्यालयों का उद्देश्य एवं संगठन पुनरावलोकन चाहता है। इन विद्यालयों से निकले विद्यार्थी व्यवसाय की चयन स्वतन्त्रता के प्रति आश्वस्त हो सकें इस दृष्टि से सभी छात्रों को व्यावसायिक तैयारी एवं शैक्षिक तैयारी दोनों करनी होगी।

विभिन्न प्रकार के अनुभव की पृष्ठभूमि, योग्यता आधार के रूप में शिक्षा प्रवेश की शर्त के रूप में मानी जानी चाहिये। इस सम्बन्ध में शिक्षण प्राप्ति हेतु योग्यता को स्पष्ट रूप से निर्धारित करना होगा। सामान्य शिक्षा, जितनी विद्यालय सभी छात्रों को अनिवार्य रूप से दे सके, उससे अधिक नहीं रखी जा सकती है। इस प्रश्न पर भी विचार करना होगा कि लाभप्रद रोजगार से पूर्व विशेष स्तर की या विशेष प्रकार की शिक्षा पूर्व शर्त के रूप में रखी जानी चाहिए या नहीं।

इस प्रकार की पूर्व-व्यवसाय शिक्षा में जो छात्र दक्षता या प्रेरणा प्रदर्शित करें उस प्रकार के थोड़ी संख्या के छात्रों तक ही चयन स्वतन्त्रता सीमित रखने वाले चयन नियमों में परिवर्तन करना होगा। यह सब से क्रान्तिकारी कदम होगा।

यह सम्भव है कि जिमनेजियम विद्यालयों के पश्चात् यथेष्ठ सीमा तक शिक्षा इस प्रकार के लोगों को दी जावे जो साथ-साथ व्यावसायिक अनुभव भी रखें। इस प्रकार के लोग भौगोलिक दृष्टि से अधिक बन्धन में होंगे, अपेक्षाकृत विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के वर्त्तमान छात्रों के। इससे शिक्षा वितरण

की नवीन मान्यता स्थापित होती है, सिद्धान्ततः उत्तर जिमनेजियम विद्यालयी शिक्षा छात्रों की खोज करे न कि इसके विपरीत। परिणामतः शिक्षा संस्थाओं की स्थिति निर्णायक स्थान एवं वितरण विधियों की नवीनता स्पष्ट है। दूसरी ओर इन बातों के दूरगामी प्रभाव संगठन एवं प्रशासन पक्ष पर होंगे। प्रौढ़ शिक्षा का वर्त्तमान अनुभव है कि इसका उपयोग "बलवान" श्रेणी के लोगों की शिक्षा हेतु ही अधिक हुआ है जिनकी शैक्षिक पृष्ठभूमि अच्छी थी। प्रतिकूल परिस्थितियों में आवर्त्तक शिक्षा इस प्रभाव को घनीभूत करेगी। प्रसार सेवा प्रवृत्तियाँ आवश्यक होंगी जिससे जो लोग स्वेच्छा से शिक्षा नहीं लेना चाहते उन्हें प्रेरणा मिले। इस प्रकार की प्रवृत्तियों के संचालन में विधिगत एवं विषयगत परिवर्तन करना होगा एवं चयन के नियमों में योग्यता सम्बन्धी बंधनों में भी शिथिलता प्रदान करनी होगी। यह भी ध्यान में रखना होगा कि शिक्षा प्रसार की दूरस्थ प्रसार विधियाँ जैसे टेलीविजन एवं पत्राचार विधि बड़ी कष्टसाध्य हैं तथा व्यक्ति को सुविधाजनक अन्यविधियों का साथ में प्रयोग करना होगा।

शैक्षिक अर्थ-योजना एक निर्णायक तत्व होगा। जो लोग लाभप्रद रोजगार लें तथा कालान्तर में शिक्षा की ओर परिवर्तन चाहें उनकी वास्तविक आर्थिक परिस्थितियों को उस समय ध्यान में रखना होगा जब उन्हें लाभप्रद रोजगार या शिक्षा में से एक का चयन प्रारम्भिक वर्षों में करना होगा। आवर्त्तक शिक्षा, अन्य बातों के साथ-साथ, शिक्षा पर कार्यरत व्यक्तियों के मांग एवं प्रभाव को प्रभावशाली ढंग से निबटने की पद्धति भी है। यह श्रम बाजार पर अपना प्रभाव डालती है। नवयुवक जो कि प्रथम बार व्यवसाय तलाश करेंगे, आज की अपेक्षा अधिक तैयार होंगे कि कुछ समय बाद वे शिक्षा पुनः चालू कर सकें। उनमें से अनेकों के पास कम व्यापक व्यावसायिक तैयारी होगी अपेक्षाकृत उन लोगों के जिन्होंने व्यावसायिक विद्यालयों से शिक्षा प्राप्त की है। इससे सेवाकार्यों के पुर्नवितरण, भर्ती नियमों, शिक्षा के समय सुरक्षा आदि प्रश्नों का महत्व बढ़ जाता है।

इस प्रकार के संक्षिप्त प्रतिवेदन में यह असम्भव है कि सभी प्रश्नों को जो कि भावी शिक्षा समायोजना के विशद ढांचे में उठ सकते हों विचारान्तर्गत लिया जा सके। मेरी आशा है कि इस रूपरेखा से यह स्पष्ट हो गया है कि आवर्त्तक शिक्षा का अभिप्राय यह नहीं है कि परम्परागत शिक्षा के साथ या बाद में नवयुवक इसे अपना सकें। समग्र शिक्षा व्यवस्था पर इसके निर्णायक प्रभाव पड़ेंगे।

४.३. भविष्य में प्रौढ़ शिक्षा*

भविष्य के अनुसन्धान एवं समायोजन की दृष्टि से दीर्घावधि के शिक्षा समायोजन में निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण कारणों पर विचार प्रौढ़ शिक्षा के लिये करना होगा –

*लेक्टर टार्स्टेन एलियासन द्वारा

(अ) यह बहुत अधिक सम्भव है कि प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में यथेष्ठ वृद्धि होगी। समाज की अपेक्षायें एवं पूँजी निवेश अन्य संस्थाओं की भांति बढ़ रही हैं।

(ब) सामाजिक एवं रहन-सहन में परिवर्तन के परिणामस्वरूप यह भी सम्भव है कि नवयुवक शिक्षा पर से बल घटकर प्रौढ़ शिक्षा पर होगा।

(स) प्रौढ़ शिक्षा में अनेक न्यूनतायें हैं जिनके निराकरण हेतु योजना बनानी होगी। सूचना सम्बन्धी आधार की परिस्थिति अनुकूल नहीं है। इस समस्या का सर्वेक्षण कम हुआ है तथा अनुसन्धान की भी कमी है। अतः यह भय है कि अपर्याप्त सूचना के आधार पर दूरगामी निर्णय लेने होंगे। प्रौढ़ शिक्षा समायोजन का प्रथम उद्देश्य अधिक अच्छी सूचना का आधार उत्पन्न करना होगा।

४.३.१. वर्त्तमान स्थिति

इस क्षेत्र में वर्त्तमान स्थिति के विषय में प्रारम्भ ही में क्या कहा जा सकता है। प्रौढ़ शिक्षा के बिभिन्न प्रकारों के विषय में कुछ कहने से प्रारम्भ करेंगे –

(a) *व्यवसाय सम्बद्ध प्रौढ़ शिक्षा* – इसमें अनवरत प्रशिक्षण (continuation training) उच्च शिक्षण (further education) तथा पुर्नशिक्षण (re-training) सम्मिलित हैं। श्रम बाजार बोर्ड (Labour Market Boards) तथा शिक्षा बोर्ड द्वारा आयोजित प्रतिष्ठानों एवं व्यापार संघों से प्रबन्धित संस्थानों द्वारा यह शिक्षण दिया जाता है। इस प्रवृत्ति में अनेक आकार प्रकार, अनेक रूप एवं अनेक स्तर तथा भिन्न-भिन्न प्रतिभागी समय अवधि एवं पूंजी निवेश सम्मिलित हैं।

(b) *नवयुवक विद्यालयों के समान प्रौढ़ शिक्षा* – मुख्य रूप से नवयुवकों हेतु निर्मित तथा इस उद्देश्य से कि प्रौढ़ों की न्यून विद्यालयी पृष्ठभूमि की शिक्षा की कमी की पूर्ति हो सके तथा उच्च स्तरीय बुनियादी विद्यालयी एवं व्यावसायिक शिक्षण दिया जा सके।

(c) *उदार अध्ययन एवं लोकप्रिय शिक्षा* – यह एक विस्तृत एवं विशाल क्षेत्र है जिसमें भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमि है तथा अनेक प्रकार के स्वरूप, विषय, स्तर एवं दिशायें हैं तथा उन आवश्यकताओं की पूर्ति होती है जिनकी पूर्ति नवयुवक विद्यालयों में नहीं हो सकी। वर्त्तमान समय में भी युवक शिक्षा की अपेक्षा प्रौढ़ शिक्षा में अधिक लोग लगे हुये हैं। शिक्षा स्तरों एवं सामाजिक स्तर जिनसे प्रतिभागी आते है इन दोनों में प्रत्येक में उल्लेखनीय असमानता है। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक अनुकूल परिवेश में जिन लोगों को यथोचित प्रारम्भ के साथ जीवनयापन सुविधायें मिली हैं उन लोगों की प्रौढ़ शिक्षा प्रवृत्तियों के लिये भी यही बात सत्य है। इस समय उक्त तीनों प्रमुख प्रौढ़ शिक्षा प्रवृत्तियों में प्रतिभागियों की संख्या तेज़ी से बढ़ रही है।

विषयों के विचार से युवक शिक्षा की अपेक्षा प्रौढ़ शिक्षा में अधिक विभिन्नतायें हैं। चयन करना भी अधिक कठिन है। नेतृत्व की

बहुलता के कारण भी सर्वेक्षण एवं प्रति-भागियों को विषयवर्ग का चयन करना कठिन हो रहा है।

श्रम बाजार शिक्षण के सर्वेक्षण से पता चला है कि ५०० व्यक्तियों से अधिक को नियुक्त करने वाले प्रतिष्ठानों में से ७५% के कर्मचारियों ने तीन करोड़ शिक्षण दिवस शिक्षा पाई (३ सायंकालीन कार्यदिवसों का एक पूर्ण कार्य दिवस मानने से)। यह विशाल एवं विस्तृत क्षेत्र जिसमें प्रौढ़ शिक्षा कार्य करती है उसका केवल एक लघु अंश है। अध्ययन केन्द्र जो इस समय कार्य कर रहे हैं संख्या में चौदह लाख (१.४ मिलियन) हैं।

४.३.२. प्रौढ़ शिक्षा का स्वरूप

प्रौढ़ शिक्षा की वे कौनसी विशिष्ट बातें हैं जिनसे इसे अन्य प्रकार की शिक्षा, विशेषकर युवक शिक्षा से पृथक किया जा सकता है। सर्वप्रथम, जैसाकि पहिले कहा जा चुका है यह विशेष वस्तु में अधिक विभिन्नता युक्त है, विषय वर्गों, प्रशासक एवं नेताओं में भी विभिन्नतायें हैं। दूसरे यह नीचे से उद्भूत है अथवा विकेन्द्रित है। केन्द्रीय समायोजन एवं जातीय स्तर पर इसका आयोजन बहुत ही कम हुआ है, परन्तु इसका संगठन नागरिक समुदायों, प्रतिष्ठानों, व्यापार संघों द्वारा बिना केन्द्रीय समायोजन के हुआ है। इस प्रकार उपभोक्ताओं से इसका निकट का सम्बन्ध है। तीसरे यह संस्थागत रूप से कम व लचकीला संगठन अधिक है। पाठ्यक्रम एवं विधियाँ बड़ी सरलता से परिवर्तित की जा सकती हैं तथा उपयुक्त बनाई जा सकती हैं। चौथे संस्थागत, पूर्णकालीन कर्मचारियों के, शिक्षक प्रशिक्षण, अनुसन्धान तथा प्रतिष्ठा के दिखावे के व्यय इनमें बहुत कम हैं। तेजी से विकसित होने तथा अधिक लोगों को अपने में समाहित करने के दो बिन्दु, जिनका मैं पहिले वर्णन कर चुका हूँ, से यह आन्दोलन अधिक सम्बन्धित है।

यहां प्रौढ़ शिक्षा के अन्तर्गत महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय सम्मिलित नहीं हैं। प्रौढ़ शिक्षा उन लोगों के लिये शिक्षा है जिन्होंने कुछ वर्ष पूर्व अपनी विद्यालयी शिक्षा बीच में छोड़ दी थी या पूर्ण करके छोड़ दी व अब अध्ययन के साथ व्यवसाय एवं व्यवसाय के साथ अध्ययन इस प्रकार कर रहे हैं कि व्यवसाय में से ही कुछ समय शिक्षा हेतु निकाला जावे।

४.३.३. भावी दृष्टिकोण

सन् २००० तक की अवधि में क्या होने की आशा है? जो भी धारायें हम आज देखते हैं उनसे प्रतीत होता है कि प्रौढ़ शिक्षा का महान विस्तार अभी आने को शेष है। पिछली दशाब्दियों में तीव्र शिक्षा-सुधारों के कारण जो न्यूनतायें शिक्षार्थियों में रह गई हैं उनसे उत्पन्न असमानताओं को पूर्ण करना प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य है यह वर्त्तमान विचारधारा अब सत्य नहीं है। तीव्रगति से विकास की आशा करने का कारण यह भी है कि संरचना में परिवर्तन के साथ ही साथ व्यवसाय में परिवर्तन हो रहे हैं जिनका प्रभाव प्रौढ़ शिक्षा की मांग पर पड़ता है। भविष्य की समाज रचना की एक सामान्य

बात यह होगी कि व्यवसाय के परिवर्तन का प्रभाव तुरन्त पड़ेगा। ज्ञान-विस्फोट हो रहा है, अन्तर्राष्ट्रीयकरण की ओर उल्लेखनीय झुकाव हो रहा है जिसके फलस्वरूप प्रौढ़ों में नवीन ज्ञान की आवश्यकता उत्पन्न होती है। लोगों के पास फुरसत का समय बढ़ता जा रहा है जो कि शिक्षा के नये क्षेत्र एवं प्रौढ़ शिक्षा के नये प्रकार की अपेक्षा रखता है। यात्रा एवं टेलीविजन के प्रति लोगों की उत्सुकता बढ़ रही है जिससे ज्ञान के नये क्षेत्रों से सम्पर्क होता है। फिर भी भविष्य के महान विकास की मान्यता इन संरचनात्मक तथ्यों पर आधारित नहीं है, वरन् उन सरल सम्पर्कों पर है जिनकी हमें पुष्टि मिलती रहती है और वह यह कि किसी व्यक्ति को जितनी अधिक शिक्षा मिलती है उतनी ही अधिक शिक्षा की वांछा वह व्यक्ति प्रौढ़ावस्था में करता है। जिन लोगों को औसत से अधिक शिक्षा मिल चुकी है उनमें ही प्रौढ़ अवस्था में ज्ञानपिपासा सर्वाधिक होती है, तथा युवक विद्यालयों के विकास से हम यह जानते हैं कि उच्च शिक्षित श्रेणी के लोगों की संख्या बढ़ रही है। वर्त्तमान समाज में प्रौढ़ विद्यार्थियों के अधिक अनुपात में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

भावी विकास का मूल्यांकन एवं पूर्वाभास केवल परिमाणात्मक दृष्टि से ही रोचक नहीं है। प्रश्न यह भी है कि किस प्रकार की प्रौढ़ शिक्षा इस विकास से सम्बद्ध होगी जहाँ तक विषयगत एवं प्रशासनिक क्षेत्र का सम्बन्ध है। अब हमारे सामने अभूतपूर्व महत्व के विकल्पों में से चयन की समस्या है जो कि न तो पूर्णरूप से और न प्राथमिक रूप से संरचनात्मक परिस्थितियों पर निर्भर हैं वरन् राजनैतिक निर्णयों पर निर्भर हैं। इन विकल्पों की रूपरेखा निम्नलिखित तीन बिन्दुओं पर निर्मित है –

पहिले का सम्बन्ध युवा शिक्षा में, प्रौढ़ शिक्षा की तुलना में, निवेश की प्राथमिकता का है। क्या हम "जीवन की देहली" पर, व्यवसाय में प्रवेश से पूर्व ही युवक विद्यालयी शिक्षा की यात्रा की अधिकाधिक वृद्धि कर रहे हैं, अधिकाधिक श्रेणी विभाजनों एवं अधिकाधिक दीर्घावधि बनाकर, अथवा हम प्रौढ़ शिक्षा हेतु निवेश कर रहे हैं? युवाशिक्षा एवं प्रौढ़ शिक्षा में किस अनुपात से बजट का, वृद्धि जीवियों का, सन्दर्भ्य व्यक्तियों के साधनों का वितरण होना चाहिये?

द्वितीय विकल्प आंशिकरूप से प्रथम से सम्बन्धित है। व्यावसायिक वातावरण एवं शिक्षा प्रणाली के बीच की सामाजिक बाधा को हम किस प्रकार दूर करें? क्या हम यह कठोर प्रयत्न करें जिससे शिक्षा पृथक एवं एकाकी हो सके अथवा हम इससे भी अधिक कठोर प्रयत्न करें जिससे शिक्षा एवं रोजगार अधिकाधिक एकरस हो सकें, एक दूसरे में विलीन हो सकें। शिक्षा की व्यवस्था व्यवसाय के साथ-साथ चले अथवा व्यवसाय में व्यवधान के साथ? प्रौढ़ शिक्षा के किसी भी अंश में आर्थिक निवेश से अनेक संक्रमण-कालीन विधियों, संयोगों एवं माध्यमिक रूपों की उत्पत्ति होती है, उसके कारण शैक्षिक एवं व्यावसायिक परिस्थितियों में वर्त्तमान अंतर कम होता है तथा इससे योग्यताजन्य

समस्याओं पर भी साथ ही साथ प्रभाव पड़ता है।

तृतीय विकल्प है–किस प्रकार की प्रौढ़ शिक्षा को प्राथमिकता दी जावे ? संस्थागत, युवक शिक्षा के सदृश्य प्रौढ़ शिक्षा को या उसे जो कि नवीन है तथा प्रौढ़ों की विशिष्ट समस्याओं का विश्लेषण करती है। लोकप्रिय आन्दोलनों से प्रशासित एवं सीधे जातीय प्रशासन के बीच भी विकल्प होगा। आधुनिक वर्षों के शिक्षा बजटों के द्वारा प्राथमिकता उस प्रौढ़ शिक्षा को मिली है जो कि संस्थागत (institutionalised) है तथा युवक शिक्षा के अनुकूल प्रकार की है। इसका अर्थ है कि एक महत्वपूर्ण समस्या को स्थगित किया जारहा है एवं परिणाम-स्वरूप भविष्य में परिवर्तन की सम्भावना सीमित की जारही है।

इस नीति एवं समायोजन पक्ष पर ध्यान देना चाहिये। यही समय है जबकि निर्णय लिये जाने हैं व समायोजन को क्रियान्वित करना है जिसके परिणाम भविष्य में होंगे यद्यपि स्थिति सर्वेक्षण एवं अनुसन्धान आधार की न्यूनता है। समाज एवं स्वयंसेवी संस्थाओं दोनों के द्वारा ही निवेश एवं समायोजन सम्बन्धी निर्णय अब लिये जा रहे हैं। इन निर्णयों का भविष्य पर दूरगामी प्रभाव पड़ेगा। इस निवेश में दो विचारधारायें विद्यमान हैं। एक है जनशक्ति नीति के अन्तर्गत पुर्नशिक्षण देना, तथा दूसरी है युवक विद्यालयों की संस्थागत रूप में पुनर्उत्पत्ति, उदाहरणार्थ पाठ्यक्रम इत्यादि वही हो। इस प्रकार की प्रौढ़ शिक्षा को अधिकाधिक साधन मिल रहे हैं, सन्दर्भ्य व्यक्तियों को यह प्रणाली खपा रही है तथा समय जो लगाया जा रहा है वह भी बढ़ रहा है, परन्तु इस सब पर लोगों को बड़ा सन्देह है।

४.४. आवर्त्तक शिक्षा (Recurrent Education) के वक्तव्यों पर विचार

U ६८ द्वारा जो समस्याएं प्रस्तुत की गई हैं उनके समाधान की दृष्टि से अधिकांश प्रश्न हैं –

४.४.१ "समानता" की परिभाषा तथा शिक्षा में इसके उदाहरण

प्रश्न - U६८ ने "समानता" की क्या परिभाषा की है ? समानता साध्य है अथवा साधन ? यह आंशिक होगा अथवा सर्वांगीण ? क्या आय तथा स्तर (Status) के रूप में इसकी परिभाषा की जा सकती है ?

उत्तर - इन दृष्टिकोणों से U६८ ने "समानता" की परिभाषा अभी तक नहीं की है। यह भी सन्देहास्पद है कि ऐसा कभी होगा भी। कमीशन की सम्मति एवं विचारों का यदि अनुमान लगाने का प्रयत्न किया जावे तो उत्तर सम्भवतया निम्नलिखित होगा–

U६८ ने अपनी विस्तृत सामग्री में शिक्षा का महत्व एवं परिणाम जैसा कि समानता पर इनका प्रभाव पड़ता है उपस्थित किये हैं। तदनन्तर यह राजनीतिज्ञों का कार्य है कि वे निश्चित करें कि हमारे समानता प्राप्ति के प्रयत्नों की क्या स्पष्ट विषय वस्तु हो। एक प्रकार से हम एक परिभाषा के निकट पहुँच रहे हैं : अवसर की समानता को समानता के क्रियात्मक पक्ष (Operationalisation) के रूप में लिया जाना चाहिये। केवल विद्यालयी अवधि के लिये ही नहीं वरन् व्यक्ति के जीवन के अधिकांश भाग के लिये समानता के दृष्टिकोण से बल बढ़ता जा रहा है। उदाहरणार्थ यह कहा जा सकता है कि समानता आज के बीस वर्षीय आयु के लोगों में नहीं है। जिन्होंने परम्परागत जिमनेजियम विद्यालयों में शिक्षा पाई है उनमें से ३० प्रतिशत व्यक्ति समाज में उच्च पदों हेतु पहिले ही चुन लिये गये हैं, जबकि इतनी ही संख्या में लोगों के भाग्य में आगे बढ़ना नहीं है। प्रौढ़ शिक्षा के सन्दर्भ में समानता की समस्या का यह महत्वपूर्ण पक्ष है।

प्रश्न - यह अति आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र में समानता की परिभाषा की जावे। इस सम्बन्ध में शिक्षा में होने वाली व्यय राशि की ओर ध्यान दिया जाना चाहिये। किस आयु तक समाज को अग्रिमशिक्षा (Further education) के अवसरों की सुनिश्चितता प्रदान करनी चाहिये ?

उत्तर - पिछली टिप्पणी से यह विचार उठता है कि "अवसर की समानता" का निर्धारण वर्त्तमान आर्थिक पृष्ठभूमि में होगा। उपभोक्ता एवं निवेश-शिक्षा की सीमा निर्धारित करना कठिन है। U६८ का विचार यह रहा है कि निवेश पक्ष की ओर अधिक ध्यान दिया जावे, तथा यह कार्य व्यावसायिक तैयारी को शिक्षा के अन्तर्गत लाकर किया जावे, जहाँ तक सम्भव हो जिमनेजियम विद्यालय स्तर (Gymnasium Stage) लाकर।

४.४.२ वर्त्तमान असमानता तथा सामाजिक (Societal) परिस्थितियों में वृद्धिमान समानता।

प्रश्न - कोई भी यह कल्पना करने को स्वतन्त्र है कि प्राचीनयुग में समाज शांतिपूर्ण एवं उत्तम था। लोगों का भाग्य समाज में उनकी स्थिति से पूर्व निश्चित था तथा उन्हें व्यवसाय के चयन की कोई समस्या नहीं थी, न उन्हें वैकल्पिक पाठ्यक्रमों की चिंता थी। यदि दूसरी ओर कोई इस प्रकार की स्तरीय (Hierarchical) प्रणाली को अस्वीकृत करता है, तो स्पष्टतया इसे परिवर्त्तित करने का प्रयत्न करेगा। इस सन्दर्भ में शिक्षा नीति परिवर्त्तन का एक साधन है। जब आवर्त्तक (Recurrent) शिक्षा पर विचार किया जाता है तो शिक्षा के सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम भ्रमोत्पादक हैं।

उदारणार्थ हम भूल जाते हैं कि अच्छा निर्माणकर्त्ता (designer) होने के लिये एक खाती को बुनियादी शिक्षा के पश्चात् कई वर्षों का शिक्षण लेना अनिवार्य है। बाद में वह फिर अग्रिम शिक्षा (further training) ले सकता है जिससे वह कार्य प्रबन्धक (works-manager) बन सके। स्तरीय समाज में सर्वोच्च पद उन्हीं लोगों के द्वारा क्यों हथियाये जावें जो शिक्षा के सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम ही समाप्त कर सीधे आये हैं ? व्यवसाय क्षेत्र से (from the shop floor) लोग उच्चतम पदों पर क्यों न पहुँचें ? इस प्रकार का स्तरीयकरण असमानता का उदाहरण है।

उत्तर – शैक्षिक स्तरीयकरण में आपाधापी (nepotism) हो भी सकती है, परन्तु क्या इसका निराकरण नहीं होगा ? जो कोई कल्पना करता है कि सामान्य शिक्षा के विस्तार से वह इस स्थिति को परिवर्तित कर सकता है वह सन्देहास्पद युक्ति दे रहा है। इसके विपरीत यह निश्चित है कि यह प्रणाली असामान्य रूप से व्ययसाध्य होगी। हम उस स्थिति में पहुँच सकते हैं जहाँ दर्शनाचार्य की शैक्षिक उपाधि से लोग व्यवसाय प्रारम्भ करें। जहाँ तक चयन का प्रश्न है, हम सुनिश्चित नहीं हैं कि हमने निम्नतम स्तर का उन्नयन किया है, अर्थात हम सुनिश्चित नहीं हैं कि अब भी हम न्यूनतम स्तर पर आसीन सामाजिक स्तर के छात्र नहीं पावेंगे। यहीं हमें सामाजिक स्थिति (Status) एवं वेतन की असमानता मिलेगी जिसे हमने स्वयं ने उत्पन्न किया है क्योंकि हमने उस शिक्षा के मूल्य को अनावश्यक महत्व दिया है जो कि हमारे उपायों में सन्निहित है तथा जिसे हमें येनकेन प्रकारेण संशोधित करना है। जहाँ तक यह शिक्षा प्रणाली के परिणाम पर निर्भर है, इसे शैक्षिक उपायों से ही ठीक करना होगा। जब हम शिक्षा की बात करते हैं, तो हम अकादमी शिक्षा (academic education) का अत्यधिक विचार करते हैं। वह कार्य प्रणाली जिसके द्वारा एक खाती भी अग्रिम शिक्षा (further education) के द्वारा कार्य संचालक (प्रबन्धक) बन सके अभी तक हमारे विचार क्षेत्र में स्वाभाविक नहीं बनी है। शोध कार्यों से सिद्ध हुआ है कि निम्न सामाजिक स्तर के लोग अपना व्यवसाय बदलते रहते हैं तथा एक व्यवसाय से उस दूसरे व्यवसाय में चले जाते हैं जिसके वेतन आदि से प्रत्येक व्यक्ति परिचित नहीं होता है। इस सन्दर्भ में प्रौढ़ शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है।

प्रश्न – अपने तर्क में हम शिक्षा की वर्त्तमान स्थिति से अनावश्यक रूप से प्रभावित हो जाते हैं। सम्भवतया भावी पीढ़ियाँ शिक्षा के समग्र स्वरूप के प्रति अधिक सकारात्मक दृष्टिकोण रखेंगी, साथ ही साथ वर्त्तमान पीढ़ी अपने को अधिकाधिक शिक्षित करने का रुझान रख रही है।

उत्तर – अभी जो कुछ कहा गया है उसके आशावाद से मैं सहमत नहीं हूँ। अभी वर्णित प्रकार के परिणाम पिछले दशक में किये गये सुधारों से निस्सन्देह निकले हैं परन्तु कुछ आकर्षक व्यवसायों में सामाजिक उच्च श्रेणी के व्यक्तियों के अत्यधिक मात्रा में खपने की त्रुटि को हम कहाँ तक ठीक कर पाये हैं। जब समानता प्राप्ति के साधनों पर विचार किया जावे तो सामाजिक चयन के साधन पर ध्यान रखना होगा। इस उदार सिद्धान्त को दूर किया जाना चाहिये कि प्रतिभावान व्यक्तियों का चयन आर्थिक व सामाजिक उच्च स्तर से ही हो, तथा **औपचारिक** समानता इस सन्दर्भ में सहायक नहीं है। साधन सुविधा से कम सम्पन्न लोगों को भी हमें क्रियात्मक रूप से ऊँचा उठाना होगा।

४.४.३. समानता प्राप्त करने के प्रयत्नों का उद्देश्य

१९६० के दशक में यह पाया गया कि छात्रों को सामाजिक क्षेत्र में लाभ देने पर भी शैक्षिक उपलब्धियों एवं सामाजिक पृष्ठभूमि में उल्लेखनीय सह-सम्बन्ध रहा जिससे लोगों को शैक्षिक अवसर की समानता के सिद्धान्त का पुनरावलोकन करना पड़ा। इसे प्राप्त करने की दो विधियाँ थीं –

(a) एक वास्तविक चयन प्रणाली को स्वीकार करना। परन्तु अविकसित, साधन सुविधा में पिछड़े लोगों को विशेष रियायतें देना। कुछ शिक्षण संस्थानों में चयन की "कोटा विधि" (Quota system) जिससे यह निश्चय हो कि जिमनेजियम विद्यालयों से आने वाले व्यक्ति ही न चुने जावें, इस नीति पर प्रकाश डालती है।

(b) शिक्षा अवधि के प्रारम्भिक वर्षों में ही विद्यार्थियों को व्यवसाय की अंतिम निर्णायक स्थिति में रखने से बचाना तथा शिक्षा पद्धति को अधिक लचीला बनाना।

सामाजिक, आर्थिक तथा भौगोलिक समानता के अतिरिक्त क्रियात्मक चयन प्रणाली में भी समानता की नीति सम्मिलित हो। जनता को शिक्षाध्ययन के सम्भावित परिणामों की जानकारी दी जावे जिससे कि उनका समस्त जीवन प्रभावित होने वाला है। लोगों को अवसर का अधिकतम उपयोग करने की प्रेरणा देने का अर्थ समानता की प्राप्ति की दिशा में वांछित प्रगति करना होगा।

प्रश्न – शिक्षा के क्षेत्र में समानता क्या कोरी कल्पनाजनित (Utopian) नहीं है ? शैक्षिक योग्यता में व्यक्तिगत विभिन्नता की वास्तविकता के विपरीत ही हमारे शैक्षिक समानता के प्रयत्नों के परिणाम जल्दी या देर से होंगे।

उत्तर – यह सही है कि शैक्षिक योग्यता में व्यक्तिगत विभिन्नतायें होती हैं परन्तु इससे हमें हमारे उपलब्धि लक्ष्य निम्न स्तर पर नहीं रखते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी उपलब्धि को सुधारेगा परन्तु न्यूनाधिक वह अपनी स्वेच्छा से समय लगायेगा। इससे हम शैक्षिक समायोजना के निकट पहुँचेंगे। कभी कभी हम यह अधिक आवश्यक समझेंगे कि हमें आश्वासन मिले कि राष्ट्र का अधिकांश भाग अपनी क्षमता को द्विगुणित कर ले, तथा किसी क्षेत्र में सीमित विशिष्ट व्यक्ति (restricted elite) क्षमता को दस गुना बढ़ा ले।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है समानता एक दृष्टिकोण (trend) अधिक है, अपेक्षाकृत एक विशिष्ट उद्देश्य के। शिक्षा में शत-प्रतिशत समानता कल्पना के भी परे है। कई प्रकार की असमानतायें होती हैं, केवल वंशानुगत ही नहीं, बल्कि अधिक महत्वपूर्ण हैं परिवेशजन्य असमानतायें। कई साधन हैं जिनका उपयोग नहीं किया गया। न्यून उपलब्धि वालों के अनुपात से यह बिलकुल नहीं है (यहाँ निम्नोपलब्धि से अभिप्राय नहीं है) जो कि बुनियादी विद्यालयों में पाये जाते हैं। यहां आवर्त्तक शिक्षा एवं पूर्व-विद्यालयी शिक्षा का बड़ा महत्व है।

४.४.४. समानता के प्रश्न के मापन का सिद्धान्त (criteria)

प्रश्न – हम सब इस बात से सहमत हैं कि

वर्त्तमान काल के समाज में आवर्त्तक शिक्षा एक अनिवार्य आवश्यकता है, परन्तु इसके समर्थन में आधारभूत मूल्यों के जो तर्क दिये गये हैं उसके सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। क्या यह ठीक नहीं है कि वह आधार व विधि जिससे हम समानता की परिभाषा करते हैं हमारी इस स्वीकृति पर आधारित है कि जीवन के उद्देश्यों में बौद्धिक स्वयं सम्पूर्त्ति सर्वोपरि है ? क्या इसमें एक पक्षीयता की ओर रुझान किंवा दबाव की प्रवृत्ति सम्मिलित नहीं है।

उत्तर – यह कहा जा सकता है कि समानता के प्रश्न में निम्नलिखित दो परस्पर विरोधी तत्व सम्मिलित हैं – एक ओर सामान्यतया स्तर को उन्नत करने की इच्छा है, जनता को समान पंक्ति में लाकर पंक्ति सरलीकरण की इच्छा है, जब कि दूसरी ओर यह मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने साधनों के अनुसार अधिकाधिक प्रगति करे–यह दोनों विचार परस्पर विरोधी है।

यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दबाव है अवश्य। अप्रयुक्त (बौद्धिक) पूंजी की सारी बातचीत के विषय में यह अनुभव होता है कि ईमानदार शारीरिक परिश्रम करने वाले व किसान जो कि अपना स्तर 'ऊँचा' करना नहीं चाहते उन लोगों के मुंह पर तमाचा लगाया गया हो। चूंकि उन लोगों को वह विद्यालयी शिक्षा नहीं मिल पाई जो कि अन्य अनेकों को मिली, अतः वे लोग उनकी पूंजी बुरी तरह प्रबन्धित होने की शिकायत से जरूर क्षुब्ध होंगे। अग्रिम शिक्षा (further education) की उपलब्धि के लिये विवश किये जाने से आवर्त्तक शिक्षा के दबाव की स्वीकृति के सम्बन्ध में निम्नलिखित टिप्पणी की जा सकती है। नववर्षीय विद्यालयी योजना में अनिवार्यता यथेष्ठ मात्रा में है। उच्च शिक्षा के प्रवेश में वर्त्तमान स्वीकार्य असमानता को ठीक करना ही प्रसार प्रवृत्तियों का उद्देश्य अधिक है, अपेक्षा इसके कि पंक्तियों का सरलीकरण (straighten the ranks) किया जावे।

मूल्यों की लादी गई प्रणाली का निषेधात्मक होना ही अनिवार्य नहीं है, बल्कि इससे एक राजनैतिक इच्छा एवं एक दृष्टिकोण लक्षित होता है। परिस्थितियों एवं वस्तुओं का स्पष्ट चित्र रखने के लिये अपने आपको सम्पूर्ण बनाने के लिये शिक्षा एक साधन है। यह समाज का कर्त्तव्य है कि व्यक्तियों को यह स्पष्ट दृष्टिकोण दे जिससे व्यक्तियों में चयन की अधिक स्वतन्त्रता जागृत हो। यह व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिये हितकारी है। अतः प्रसार प्रवृत्तियों के आन्दोलन को जो कि शिक्षा के विक्रय से जुड़ा हुआ है, निषेधात्मक नहीं समझना चाहिये।

यह सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि भविष्य की शिक्षा प्रणाली इस प्रकार से आयोजित होगी कि व्यक्तियों को अग्रिम शिक्षा (further education) प्राप्त करने के बार बार अवसर मिलें। इस तथ्य पर विवाद निरर्थक है। दूसरी ओर विचार के लिये यह उपयुक्त बिन्दु है कि व्यक्तियों को यह बारम्बार शिक्षा प्राप्ति के अवसर क्यों दिये जावें। इसके आधार में क्या यह दार्शनिक विचार नहीं है कि भविष्य के लिये नियोजन

की दृष्टि से शिक्षा से अधिक उपयुक्त कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त शिक्षा इतनी आकर्षक एवं सुनिर्धारित है कि लोगों को इससे वांछित वस्तुयें प्राप्त करने में सहायता मिलती है जैसे कि अधिक वेतन तथा उच्च सामाजिक स्तर। इस स्थिति में क्या हमारी समानता की नीति का यह अभिप्राय नहीं है कि हम उस सामाजिक व्यवस्था को रक्षित रखने में प्रयत्न कर रहे हैं जिसके द्वारा शिक्षा वह आय एवं स्तर (status) प्रदान करती है जिसका पुनः प्रभाव समानता को निष्प्रभावी बनाने में वास्तव में पड़ता है। वास्तविक समानता के लिये एक शर्त यह होनी चाहिए कि समानता को सुनिश्चित करने वाले प्रत्येक मूल्य परिवर्तन की सम्भावना व्यक्तियों के सब क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा के सम्पूर्ण उपयोग के बिना भी है।

४.४.५. प्रौढ़ शिक्षा के आर्थिक साधन

प्रश्न – प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार में आर्थिक साधनों का महत्वपूर्ण योग है। जब तक आर्थिक साधनों की समुचित व्यवस्था सुनिश्चत न हो प्रत्येक समाधान कल्पना जन्य होगा। दो शर्त्तों की पूर्त्ति आवश्यक है (अ) प्रौढ़ विद्यार्थियों को यह आश्वासन मिले कि शिक्षा अध्ययन के कारण उनके व्यवसाय की क्षति न होगी, (ब) अध्ययन की अवधि में उन्हें इतनी आर्थिक आय का विश्वास हो जिससे उनका निर्वाहस्तर निम्न न होने पावे। इससे बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

समानता को प्रोत्साहन देने का एक उपाय यह है कि उत्तर जिमनेजियम विद्यालयी आर्थिक अनुदान को समाप्त किया जावे तथा अनिवार्य पुनर्भुगतान की अधिकतम राशि (ceiling) को बढ़ाया जावे। जहाँ तक प्रौढ़शिक्षा के आर्थिक समाधान का प्रश्न है वर्त्तमान प्रणाली का ढाँचा अपर्याप्त है। सहायक सेवा निवृत्ति पेन्शन (ATP)* के आधार पर सम्पूर्ण योग राशि के प्रतिशत का उपयोग इसमें सम्मिलित है। इससे तुरन्त ही समानता का प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या अधिक वेतन से किसी व्यक्ति को अध्ययन हेतु भी अधिक आर्थिक वेतन अनुदान का अधिकार है ? दूसरी समस्यायें भी सम्मिलित हैं। क्या आर्थिक अनुदान को व्यक्तियों से सम्बन्धित किया जावे ? क्या शैक्षिक बिन्दुओं का नाम-जमा किया जावेगा ? क्या प्रणाली इस प्रकार की हो जिससे व्यक्तियों को अपने शैक्षिक अवसरों का उपयोग करने का प्रोत्साहन मिले ?

उत्तर – ए० टी० पी० व यू० टी० पी०** के आधार पर आर्थिक प्रणाली पुराना विचार है। दूसरी सम्भावना यह भी है कि ए.टी.पी. कोष को शैक्षिक आर्थिक साधन के रूप में

* सहायक सेवा निवृत्ति पेन्शन का आधार सेवा अवधि आय है जिसमें अधिकतम वेतन के १५ वर्ष का उपयोग किया जाता है। इस पेन्शन की व्यवस्था मालिकों के आर्थिक योगदान द्वारा होती है तथा इसका आधार वेतन स्वरूप दी गई धन राशि होती है।

** एक प्रस्तावित सहायक बीमा योजना जिसका आर्थिक निवेश मालिकों के चंदे से तथा अनुदान एवं ऋणों से, उन व्यक्तियों के लिये होगा जोकि प्रौढ़ शिक्षा के प्रतिभागी हैं।

भी उपलब्ध कराया जावे । राजनैतिक रूप में यह कर सकना बड़ा कठिन होगा । इससे यह तो सम्भव होगा कि पेन्शन को पहिले ही बन्धक रखदी जावे अर्थात् निम्नलिखित तर्क को ग्राह्य बनाया जावे । मैं अपनी पेन्शन में से कुछ राशि लेता हूं (जिसे मैं शिक्षा में लगा देता हूं) जिससे भविष्य में मेरी स्थिति और अच्छी हो सके, तथा साथ ही साथ मैं अपनी पेन्शन की आय भी बढ़ा लेता हूँ । अथवा उदाहरण के लिये मानिये कि एक अनुपयोगी व्यक्ति जिसकी पेन्शन बहुत कम राशि पर निश्चित होती है, उसकी एक मात्र आशा पुनर्शिक्षण है । यदि वह ए०टी०पी० राशि को शिक्षा हेतु लगाता है तो वह एक जोखम लेता है, परन्तु यह निश्चित है कि अपने व्यावसायिक जीवन के शेष भाग में तथा पेन्शन की राशि में वह अधिक अच्छी स्थिति में होगा ।

यू० टी० पी० से संबंधित समस्यायें इस बात की इतनी नहीं हैं कि शिक्षा की दृष्टि से यह कैसे कार्य करेंगी, वरन् यह अधिक है कि समानता के प्रसार में यह क्या प्रभाव डालेंगी । हमें इस समस्या का अब भी सामना करना पड़ सकता है कि जो लोग पहिले शिक्षा में प्रवेश करेंगे उन्हें अधिक उत्तम पद मिलेंगे । जो लोग ३० व ४० वर्ष की आयु में व्यवसाय आरम्भ करते हैं वे निश्चित रूप में पिछड़ जाते हैं ।

४.४.६. प्रौढ़ शिक्षा तथा आवर्त्तक शिक्षा : प्रबन्ध पक्ष

प्रश्न – प्रश्न है कि औपचारिक शिक्षा की आवश्यकता कितनी है ? इसका विकल्प व्यायसायिक पाठ्यक्रम हैं । आवर्त्तक शिक्षा की व्यवसाय से कितनी निकटता होनी चाहिये ? यह महत्वपूर्ण प्रश्न है ।

उत्तर – स्टाकहोम में शिक्षा विद्यालय द्वारा प्रौढ़ शिक्षा के सम्पूर्ण वर्त्तमान क्षेत्र पर सर्वेक्षण* किया गया जिसमें निजी क्षेत्र को भी, जो कि विशाल है, सम्मिलित किया गया है ।

प्रश्न – शिक्षा में व्यावसायिक दृष्टिकोण कितना रहे यह भी प्रश्न महत्वपूर्ण है । उदाहरणार्थ अर्थशास्त्रियों की शिक्षा जो कि सामान्य होने की ओर बढ़ रही है, इसका परिणाम यह हो रहा है कि व्यवसाय क्षेत्र में रहते हुए शिक्षा की अवधि अधिकाधिक बढ़ रही है । कहीं-कहीं तो व्यवसाय में रहते हुए शिक्षा की अवधि छः माह की हो रही है ।

उत्तर – विश्वविद्यालयी शिक्षा का संकायों में विभाजन करने की भूतपूर्व प्रणाली ने इन समस्याओं का समाधान असम्भव कर दिया है । संकायों की स्वतन्त्रता को, समर्थन में तर्क के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । अब कुछ दबाव से स्थिति में कुछ सीमा तक सुधार हुआ है । यही समस्यायें जिमनेजियम विद्यालयों में भी उपस्थित होती हैं । यहाँ सभी विद्यार्थियों के लिये अनेक व्यावसायिक तैयारी के अंगों पर विचार करना होगा । जहाँ तक राज्य द्वारा प्रौढ़ शिक्षा एवं आवर्त्तक शिक्षा के उत्तरदायित्व लेने का प्रश्न है, यह स्मरण रखना चाहिये कि बाद में इसकी संरचना इस प्रकार की होगी जो कि

* एलियासन तथा हागलेंड (१९७१) द्वारा ।

युवा शिक्षा के उत्पादन से सामञ्जस्य रख सके ।

४.५. आवर्त्तक शिक्षा (Recurrent Education) तथा प्रौढ़ शिक्षा

४.५.१. प्राथमिकता का प्रश्न

प्रत्येक व्यक्ति इस बात से सहमत है कि प्रौढ़ शिक्षा में विशाल निवेश की आवश्यकता है । सामाजिक कारण एवं उत्पादन वृद्धि का विचार दोनों ही तर्क इसके समर्थन में प्रस्तुत किये जा सकते हैं । उदाहरणार्थ चूँकि १९७० के दशक में जनशक्ति की पूर्त्ति घटेगी, हमें उत्पादन की वृद्धि करना आवश्यक होगा, यदि हम हमारे स्तर को बनाये रखना चाहते हैं । विस्तृत प्रौढ़ शिक्षा तथा आवर्त्तक शिक्षा उत्पादन वृद्धि हेतु आवश्यक हैं ।

शिक्षा की बढ़ती हुई लागत* शीर्षक के अन्तर्गत जिस स्थिति का विवेचन किया गया है, प्रौढ़शिक्षा के प्रसार को प्राथमिकता आर्थिक साधन की दृष्टि से देने पर विचार करना चाहिये । युवा शिक्षा के आर्थिक साधनों में ही प्रौढ़ शिक्षा भी भागीदार है तथा शनैः शनैः विकासमान पूर्व विद्यालयी शिक्षा भी ।

इस बात पर बल दिया गया है कि युवा शिक्षा को इसका भाग मिल चुका है । इसे वह अधिकारपूर्ण स्थिति पाने की आशा नहीं करनी चाहिये जिसमें यह शिक्षा के जननिवेश के सापेक्ष अधिकाधिक भाग को लेकर बढ़ती रहे । कुछ लोगों की मान्यता है कि युवा शिक्षा में आर्थिक निवेश की कमी करना अनुचित होगा तथा यह भी मानते हैं कि इसे और भी अधिक भाग मिलना चाहिये ।

यह शंका प्रस्तुत की गई है कि राज्याधिकारी क्या वास्तव में प्रौढ़शिक्षा हेतु वह राशि लगाने को तैयार हैं जो उन्होंने सुझाई है । अभी तक प्रौढ़ शिक्षा प्राथमिकता में नीचे रही है, क्या अब इसकी स्थिति सुधरेगी ? प्रौढ़ शिक्षा की स्थिति इस बात से नहीं सुधरेगी कि आगामी दशकों में अधिक आयु के व्यक्तियों की श्रेणी में उल्लेखनीय वृद्धि होगी । हमारे अर्थतन्त्र पर परिवेश को बनाये रखने की समस्याओं का बड़ा प्रभाव पड़ेगा ।

यह कहा गया है कि वर्त्तमान में प्राथमिक शिक्षा बुनियादी पाठशालाओं एवं जिमनेजियम विद्यालयों में बहुत लम्बी है । यह भी प्रश्न उठाया जा सकता है कि विभिन्न आयु वर्गों में हुआ शिक्षा का बंटवारा लगाये गये साधनों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग है अथवा नहीं ।

४.५.२. शिक्षा की दरार (gap)

इस सम्मति का कि "युवा शिक्षा को अपना भाग यथेष्ट मिल चुका है" निकट से अनुगमन करते हुए कुछ लोगों की माँग है कि इसे प्राथमिकता की स्थिति इसलिए मिली कि कुछ चतुर समर्थक इसके पीछे थे, तथा अब भी इसका सफल समर्थन उन उत्तम वक्ता युवकों द्वारा किया जा रहा है जो कि अपना मूल्य और अपने अधिकार, उत्पादन ढांचे में जानते हैं ।

*कूम्ब्स (१९६८) शिक्षा प्रणाली की तुलनात्मक लागत वृद्धि के सन्दर्भ में "शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीय संकट" में निहित समस्यायें ।

युवा विद्यालयों में विशाल स्तर पर निवेश के निश्चित परिणाम यह हुए हैं कि अब किसी सीमा तक शिक्षा-बाहुल्य हो गया है। जो कुछ युवा विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण की जाती है वह किसी सीमा तक शिक्षा-व्यय ही है अर्थात् वह शिक्षा व्यवसाय के क्षेत्र में छात्रों के लिये सामान्य मानव दृष्टि से न्यूनतम उपयोग की होती है। इसके अतिरिक्त युवा विद्यालयों की शिक्षा जीवन के लिये तैयारी के अतिरिक्त अन्य उद्देश्यों की पूर्ति ही करती है जैसे कि अपने से अल्पायु के युवकों की देखभाल करना।

परिष्कृत युवाशिक्षा का एक अवांछनीय प्रभाव यह है कि जो लोग श्रम बाजार के लिये इच्छित युवा आयु के नहीं हैं, और जो हैं, उन दोनों के बीच की समानता (Parity) नहीं रहती हैं। कम आयुके लोगों को व्यावसायिक पदों के लिये प्रतिद्वंद्विता करना कठिन हो जाता। यह कहा गया है कि ३० वर्ष की आयुके व्यक्ति भी (जो कि पहिले के प्राथमिक विद्यालयों की अंतिम आयुसीमा है) इस क्षेत्र में घाटे में रहते या पिछड़े रहते हैं। जहाँ तक शिक्षा का प्रश्न है, यदि नवयुवकों की वर्त्तमान में उचित देखभाल होती है, तो अधिक आयु के व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों में होते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न कारणों से शिक्षा की दरार धीरे-धीरे विस्तृत होती जारही है।

अब तक जिस प्रकार की प्रौढ़ शिक्षा होती रही है, बहुत दृष्टिकोणों से असन्तोषप्रद रही है। एक गम्भीर समस्या यह है कि प्रतिभागियों की औसत आयु बहुत कम होती है। परिणाम यह हुआ है कि प्रौढ़ शिक्षा उन लोगों द्वारा प्रयुक्त होती है जिन्हें इसकी आवश्यकता न्यूनतम है। जब कि वे लोग कि जिन्हें वास्तव में शिक्षा की आवश्यकता है अधिकाधिक पिछड़ते जारहे हैं। इसका वास्तव में इस बात से सम्बन्ध है कि प्रौढशिक्षा तभी प्रभाव शाली हो सकती है जबकि इसका सम्बन्ध छात्रों के सामाजिक कल्याणकार्यों तथा सेवा की भर्त्ती से किया जावे तथा यह सुनिश्चित किया जावे कि वर्त्तमान की भाँति प्रौढ़ शिक्षा केवल युवा एवं शिक्षा जागरूक व्यक्तियों तक ही मुख्यरूपसे सीमित नहीं है। इसलिये यह स्पष्ट है कि प्रौढ़ शिक्षा में विद्यार्थियों की समाज-कल्याणकारी लागत सबसे मँहगी होगी।

शिक्षा ग्रहण का अभ्यास एवं आदत पर्याप्त नहीं रहने के कारण शिक्षा विधियों की समस्यायें उत्पन्न होंगी। इसके अतिरिक्त बीच में से छोड़ देने वालों की समस्या है जो कि बड़ी कठिन समस्या रही है। अधिकतर अनुपयुक्त छात्र ही बीच में छोड़ते हैं, अर्थात् वे छात्र जिन्हें शिक्षा की सब से अधिक आवश्यकता है। यही छात्र उत्प्रेरणा सम्बन्धी सब से बड़ी समस्यायें पैदा करते हैं।

४.५.३ प्रौढ़ शिक्षा में जो दूसरी समस्या है वह नेतृत्व की है। शिक्षा बोर्ड युवाशिक्षा विद्यालयों के कार्य से इतना संतृप्त रहता है कि वह पूर्ण रूप से प्रौढ़ शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दे सकता। अतः प्रौढ़ शिक्षा नेतृत्व का एक उपाय यह है कि प्रौढ़ शिक्षा को वर्त्तमान की तरह शिक्षा बोर्ड से सम्बन्धित न रख कर इसे श्रम बाजार बोर्ड के

आधीन कर दी जावे जिससे इसे संरचना तथा उचित समर्थन का अभाव न रहे। शिक्षा बोर्ड अत्यधिक मात्रा में एक सरकारी संभाग तुल्य हो गया है, तथा इसकी कार्य प्रणाली परिपाटी से बंधी एवं विचार स्वातन्त्र्य से दूर है जोकि प्रौढ़ शिक्षा की विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है।

भविष्य की प्रौढ़ शिक्षा, विशेष रूप में इसका वह भाग जो आवर्त्तक शिक्षा के अन्तर्गत है, का निजी क्षेत्र एवं सरकारी क्षेत्र में शिक्षा हेतु विभाजन निहित होगा। एक सम्भव समाधान यह होगा कि अधिक सामान्य शिक्षा (अर्थात् ज्ञान के लिये ज्ञान) का उत्तरदायित्व समाज लेवे। इसके द्वारा लोग अग्रिम शिक्षा (further education) या पुनर्शिक्षा हेतु तैयार होंगे। सिद्धान्ततः यह शिक्षा मालिकों द्वारा दी जावेगी तथा विशिष्ठ व्यवसायों हेतु लोग तैयार होंगे।

दूसरी समस्या भवन की है। प्रौढ़ शिक्षा के भवन कहाँ रहें। वर्त्तमान में भौगोलिक आधार पर विशेष कर नगरों एवं ग्रामों में गुणात्मक अन्तर पाया जाता है।

४.५.४. प्रौढ़ शिक्षा का आर्थिक पक्ष

विशेष रूप से उन लोगों में जो कि सम्मति देते हैं, सभी इस प्रश्न पर सहमत हैं कि प्रौढ़ शिक्षा का आर्थिक व्यय कौन वहन करे।

ए. टी. पी. के समान ही एक शिक्षा बीमा योजना भी प्रस्तावित की गई है जिससे कि उस शिक्षा का व्यय वहन हो जिससे लोगों का आवश्यक सीमा तक पुनर्शिक्षण हो तथा छात्रों के सामाजिक कल्याण कार्यों का व्यय वहन भी इसी से हो।

यह प्रणाली, जिसका आंशिक व्यय वहन उद्योग मालिक करें प्रौढ़ शिक्षा के समुच्चय से उद्योग मालिकों की वैकल्पिक मांग के विषय के रूप में विकसित हो सकती है। बीमा योजना ऋण एवं अनुदान के रूप में कुछ बिन्दु-प्रणाली के प्रकार पर आधारित हो सकती है, जिससे रोज़गार के वर्ष शिक्षा बिन्दु के रूप में लाभ देवें। जहाँ तक प्रौढ़ शिक्षा का मालिकों के अंशदान द्वारा व्यय वहन होने का प्रश्न है, वेतन नीति सम्बन्धी उलझनें पैदा होंगी। यदि शिक्षा बिन्दु आय के स्तर से निर्धारित होंगे तो समानता की समस्यायें उठना स्वाभाविक है।

प्रौढ़ शिक्षा का दूसरा पक्ष है कि कम रोज़गार के दिनों में यह आर्थिक नीति का माध्यम या साधन बन सकती है।

छात्रों को सामाजिक लाभ देने के व्यय के अतिरिक्त प्रौढ़ शिक्षा का व्यय वहन करने से उत्पादन में हानि होगी। अतः उद्योग मालिकों के दृष्टिकोण से यह महत्वपूर्ण है कि प्रौढ़ शिक्षा को न्यूनतम करके प्रबन्ध किया जावे। इसका प्रबन्ध इस व्यवस्था से हो सकता है कि प्रौढ़ शिक्षा का आयोजन उस समय में हो जो कि कार्य के समय में कमी के लिये निश्चित कर लिया गया हो।

४.६. सीमित साधन तथा आवश्यक प्राथमिकतायें

४.६.१. प्रौढ़ शिक्षा, युवा शिक्षा तथा पूर्व-विद्यालयी शिक्षा

वर्त्तमान समय में औद्योगिक देशों में शिक्षा

क्षेत्र में व्यय की इतनी वृद्धि अनुभव की जा रही है जिसका प्रभाव समग्र राष्ट्रीय उत्पादन पर पड़ता है। राज्य एवं म्यूनिसिपेलिटी दोनों के अंशदान में व्यय वृद्धि स्पष्ट है। अनेक व्यक्तियों ने कहा है कि शिक्षा का व्यय शीघ्र ही उस स्तर पर पहुँच जावेगा जहाँ से वृद्धि नहीं हो सकेगी।

जब यह होगा आज की अपेक्षा कहीं अधिक प्राथमिकता के अनिवार्य निर्धारण की समस्या शिक्षा नियोजकों एवं निर्णायकों के सामने होगी। शिक्षा प्रणाली का अनवरत विस्तार जिसमें प्रौढ़ शिक्षा, सामान्य पूर्व-विद्यालयी शिक्षा साधनों के लिये युवा-शिक्षा से प्रतियोगिता करेंगे, पारस्परिक टकराहट की समस्या प्रस्तुत करेंगे।

प्रश्न – क्या यह कहना सही है कि युवा विद्यालयों को इनका भाग (Share) मिल चुका है, तथा अब उपयुक्त समय है जब कि विशाल मूक जन समुदाय के लिये धन लगाया जावे ? जो शिक्षा पर अपना अधिकार अभी तक मुखर भाव से नहीं जता पाया है ?

उत्तर – किसी के मस्तिष्क में जो प्रारम्भिक स्थिति है उस पर उत्तर निर्भर करेगा। १९७० के दशक में तथा १९८० के दशक के प्रारंभिक पांच वर्षों में यह निश्चित रूप से आवश्यक होगा कि धन उन आयु वर्गों हेतु लगाया जावे जो कि भूतपूर्व शिक्षा प्रणाली के दोषों के कारण उपेक्षित रहे हैं। वर्त्तमान स्वरूप में प्रौढ़ शिक्षा प्रसार सेवा के साथ साथ विकसित हो यह आवश्यक प्रतीत होता है। बुनियादी विद्यालयों में जिस आयु वर्ग को शिक्षा प्राप्त होती है उसमें एक नवीन क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था से आवश्यक होगा। उत्तर-जिमनेजियम की विचित्र प्रकार की शिक्षा में प्रवेश के विस्तार के अवसर जो कि प्रारम्भ हो चुके हैं और अधिक विकसित होंगे। जो अभी तक व्यावसायिक शिक्षा समझी जाती है, उसका यथेष्ठ भाग जिमनेजियम शिक्षा के विस्तार के साथ संलग्न किया जावेगा, प्रौढ़ शिक्षा का एक बड़ा भाग भविष्य में विषय वस्तु की दृष्टि से विकसित महाविद्यालय की प्रवृत्तियों के अन्तर्गत अथवा संयुक्त रूप से संलग्न होगा।

तर्क को सरल करके हम कह सकते हैं कि हमारे युवा विद्यालय, इनमें दोषों के विद्यमान होते हुए भी, सामान्यतया युवा व्यक्तियों को उस रोजगार के योग्य बनाते हैं जो मध्यम आयु के वे व्यक्ति करते हैं जिनकी शिक्षा उनके बालकों से निकृष्ट है। बड़ी संख्या की विवाहित महिलाओं के लिये यह असन्तुलन अधिक सत्य है, जो कि राज्य के अधिकारियों के प्रयत्नों से श्रम बाजार में अपना स्थान ढूंढने के योग्य बनी हैं।

यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रौढ़ शिक्षा एवं युवा शिक्षा के सम्बन्ध बदलने चाहिये। इस परिवर्तन का युवा शिक्षा के ढाँचे पर भी प्रभाव पड़ेगा।

एक मोटे अनुमान के आधार पर सन् २००० में शिक्षा का निम्नलिखित स्वरूप होगा –

उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति ७००,०००
जिमनेजियम शिक्षित व्यक्ति १,२००,०००
बुनियादी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति २,९००,०००
प्राथमिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति १,३००,०००
१८ से ६७ वर्ष की आयु के
व्यक्तियों का योग ६,१००,०००

आगामी शताब्दी के प्रारम्भ में प्राथमिक या इससे कम शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की संख्या उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों से दुगनी होगी। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि शिक्षा क्षेत्र एवं श्रम बाजार की समस्यायें कम शिक्षित व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न होंगी। अधिक आयु के व्यक्ति अथवा अपंग व्यक्तियों की भी समस्या होगी। इन समस्याओं का समाधान प्रौढ़ शिक्षा या आवर्त्तक शिक्षा के प्रसार से होगा जिसमें कि शैक्षिक अर्थ-व्यवस्था का प्रश्न भी सन्निहित है।

प्रश्न का उत्तर अस्पष्ट रूप से हाँ या ना में दिया जा सकता है। युवा विद्यालयों को इनके वर्त्तमान अवधि के साथ, दूसरे प्रकार की शिक्षा से अधिक दिया जा चुका है। परन्तु इनको इतना नहीं दिया जा सका जिससे अधिकांश लोग चाहते हैं वैसा यह कार्य कर सकें, विशेष कर भवनों के सम्बन्ध में। लोगों द्वारा व्यक्त इच्छानुसार इमारतें, विशेषज्ञ व्यक्ति, प्रावधिक सहायता आदि पूर्ण पर्याप्त नहीं हैं। फिर भी धीरे-धीरे प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार एवं युवा शिक्षा की वृद्धि में न्यूनता सम्भवतया आयेगी ही।

जिमनेजियम स्तर पर साधनों के पुर्नावितरण पर भी विचार करना चाहिये। प्रायोगिक क्षेत्र के लिये बाद में कहेंगे। युवाविद्यालयों को शायद इनका उचित अंश मिल चुका है जहां तक साधनों के योग का प्रश्न है, परन्तु इन विद्यालयों में इन साधनों के पुर्नावितरण तथा साधनों के अधिक प्रभावी उपयोग की दृष्टि से यथेष्ट करना शेष है। अतः यह तर्कयुक्त होगा कि अब युवा विद्यालयों की तुलना में प्रौढ़ शिक्षा हेतु कुल साधनों को बढ़ाया जावे।

हाँ, युवा विद्यालयों के परिमाणात्मक विस्तार को अब कम किया जावे।

प्रश्न – क्या यह उपयुक्त है कि अनिवार्य विद्यालय उपस्थिति को और दीर्घावधि करने की योजना बनाई जावे ?

उत्तर – हाँ, दीर्घकाल में, परन्तु प्रौढ़ शिक्षा में निवेश और भी अधिक आवश्यक है। मध्यम अवधि में साधनों को प्रौढ़ शिक्षा की ओर प्रवाहित करना चाहिये।

विशेषकर अनवरत शिक्षा (continuous education) के रूप में प्रौढ़ शिक्षा के निरन्तर विकास से जिमनेजियम स्तर पर अनिवार्य विद्यालयी उपस्थिति को अवश्य कम करना चाहिये।

परम्परा की रीति से चलने वाली अनिवार्य विद्यालयी उपस्थिति से अधिक महत्वपूर्ण यह होगा कि व्यक्ति के अधिकार एवं उत्तर-दायित्व के साथ-साथ ही व्यक्तियों के अधिक से अधिक सन्तुलन को प्राप्त किया जावे। आवर्त्तक शिक्षा के साथ-साथ अनिवार्य विद्यालयी उपस्थिति का विचार ग्रहण करने योग्य है। उदाहरणार्थ यह निर्धारित करना गलत होगा कि अनिवार्य विद्यालयी शिक्षा के साथ ही एक या दो वर्ष जोड़ दिये जावें।

अनिवार्यता की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके स्थान में विकल्प की स्वतन्त्रता में वृद्धि होनी चाहिये। आवर्त्तक शिक्षा की समस्या का समाधान इसमें है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके जीवन-पर्यन्त शिक्षा की सामान्य सुविधायें दी जावें तथा प्रदत्त सुविधाओं के उपयोग की अनिवार्यता का कोई बन्धन न न रहे।

शिक्षा प्रणाली सामाजिक चयन का एक अनन्त शक्ति सम्पन्न साधन (instrument) हो सकता है जो कि लोगों को शिक्षा – तथा शिक्षा के फलस्वरूप समृद्धि – उन लोगों को प्रदान कर सकती है जिन्होंने शिक्षा प्रेरणा एवं रुचि से ली है। व्यक्तियों के बीच शिक्षा वितरण समान रूप से हो उसकी अनेक विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार की एक विधि अनिवार्य शिक्षा की अवधि को दीर्घ करने की हो सकती है। इस दशा में इस बात के अच्छे कारण हो सकते हैं कि शिक्षा में कम प्रेरणा वाले व्यक्ति एक लगातार अवधि में अपने कर्त्तव्य की पूर्ति कर सकें।

मेरी सम्मति में अनिवार्य विद्यालयों के विस्तार की आवश्यकता मुख्य नहीं है, वरन् यह है कि अनिवार्य शिक्षा को भविष्य की प्रौढ़ शिक्षा से निकटतम रूप से सम्बन्धित किया जावे। आगामी विद्यालय सत्र से पूर्व भी, यह योजना बनाई गई है कि १६ वर्ष आयु के प्रवेशार्थी छात्रों में से ९०% के लगभग प्रति वर्ष जिमनेजियम शिक्षा प्राप्त करेंगे। इसलिए यह प्रतीत होता है कि १९७० के दशक में यह भी उपयुक्त होगा कि अनिवार्य शिक्षा को जिमनेजियम तक विस्तृत करना पड़ेगा। परन्तु यदि यह हुआ तो इस प्रकार होगा कि विद्यालयी शिक्षा के साथ न्यूनाधिक दो वर्ष की अवधि बढ़ा दी जावे जो कि विकल्पों की पूर्ण स्वतन्त्रता से चुनी जावे। यह सम्भव है कि शेष ५ या १०% इन दो वर्षों की शिक्षा प्राप्त न करना चाहें।

प्रश्न – पूर्व विद्यालयी, युवा शिक्षा (अनिवार्य अवधि के उपरान्त भी) तथा प्रौढ़ शिक्षा में यदि प्राथमिकता का अनिवार्य निर्धारण करना ही पड़े जिसके आधार पर तुलनात्मक आर्थिक निवेश निश्चित हो तो इसके लिये किस प्रकार के सिद्धान्त प्रयुक्त करने होंगे?

उत्तर – मैंने प्रौढ़ शिक्षा का वर्णन पहिले ही कर दिया है। मैं पूर्व विद्यालयी शिक्षा को प्राथमिकता दूंगा। मैं यह ऊपर कहे गये कारणों के आधार पर किसी सीमा तक करूँगा, कारण यह कि बच्चों के साथ वाली महिलायें बड़ी संख्या में, एक लाभप्रद रोजगार लेना चाहती हैं, जिसके कारण सभी प्रकार की पूर्व-विद्यालयी शिक्षा में यथेष्ट धन लगाना होगा।

प्राथमिकता निर्धारित करने का आधार यह होगा कि देर से या जल्दी उन लोगों को प्राथमिकता का व्यवहार दिया जावे जो अब तक निकृष्टतर रहे हैं। समानता हेतु यह आवश्यक है, जिसको कि अभी स्वीकार न भी किया जावे परन्तु वह दिन आने वाला है जब इसे स्वीकार किया जावेगा। आगामी दशाब्दी में किसी भी स्थिति में प्रौढ़ शिक्षा तथा धीरे-धीरे पूर्व विद्यालयी शिक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता मिलेगी। दीर्घावधि में परिमाणात्मक प्रसार इतना दूरगामी होना चाहिये, प्रत्येक स्तर पर, कि प्राथमिकता निर्धारित करने के प्रश्न का महत्त्व ही न रहे। इसके बजाय एक मुख्य समस्या यह रहेगी कि नवीन ज्ञान के प्रवाह को तथा नवीन कौशल को आवर्त्तक शिक्षा के नाना प्रकार के क्षेत्र में कैसे समाविष्ट किया जावे। प्रौढ़ शिक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिये, पूर्व विद्यालयों में धन लगाने का द्वितीय स्थान हो तथा युवाशिक्षा तृतीय स्थान पर रहे।

जिस रूप में प्रश्न पूछा गया है उसका उत्तर मैं नहीं दे सकता। प्राथमिकता का अनिवार्य निर्धारण भविष्य हेतु ही कल्पना प्रसूत सिद्धान्त नहीं है, परन्तु इसका अभी भी अस्तित्व है तथा सदा रहा है। तो अभी तक प्राथमिकता निर्धारण के क्या सिद्धान्त मान्य रहे हैं, तथा क्या उन्हें भविष्य के लिये उपयुक्त बनाने हेतु परिवर्त्तित करना होगा। इस हेतु वर्त्तमान में विद्यमान प्राथमिकता के आधार का विश्लेषण करना होगा, तथा तभी निर्णय हो सकेगा कि क्या भविष्य में परिवर्तन वांछनीय हैं। तथा यदि वांछनीय हैं तो वे किस दिशा में हों। इस प्रकार के एक बुनियादी विश्लेषण में कुछ साहसपूर्ण अनुमान, एक या दो ग्रहणीय प्रश्नों के सम्बन्ध में करना चाहूँगा। उचित एवं परम्पागत प्रारम्भिक बिन्दु सम्भवतया यह होगा कि शिक्षा नीति का उद्देश्य जनता की शिक्षा की मांग की पूर्ति करना है (उपभोग या निवेश हेतु), यदि जनता की सही प्राथमिकता (Preference) इस प्रकार की है जैसे आय बढ़ती है उसी प्रकार मांग भी बढ़ती रहे, तो शिक्षा क्षेत्र में निरन्तर व्यय बढ़ने के सम्बन्ध में चिंता की कोई बात या कारण नहीं है। शिक्षा बाजार के वर्तमान प्रबन्ध के साथ उनकी सच्ची प्राथमिकताओं को ज्ञात करना भी समस्या है। पूंजी निवेश प्रविधि से इस प्रकार के मूल्य का पूर्व निर्धारण करना भी समस्या है जिसके द्वारा इन प्राथमिकताओं के साथ निरन्तर एवं योजना बद्ध उपज हो सके। जिन प्रश्नों का सर्व प्रथम स्पष्टीकरण होना चाहिये उनमें से एक यह भी है कि शिक्षा को अन्य पूंजी लगाने के साधनों की तुलना में विशेष मूल्य प्रदान करना क्या समाज के हित में है, तथा इस आधार पर क्या यह औचित्यपूर्ण होगा कि शिक्षा के क्षेत्र में पूर्ण निर्धारित मूल्य के आधार पर कटौती करना उपयुक्त है। व्यक्तिगत रूप से मैं शंकास्पद हूं कि इस प्रकार का तर्क अभी भी अस्तित्व में है क्या। इस विषय में किसी निर्णय पर पहुँचने के लिये आवश्यक है कि यह मालूम किया जावे कि क्या शिक्षा के क्षेत्र में मूल्यांकन की दृष्टि से बौद्धिक मिथ्याभिमान (snobbery) के तत्व हैं। यदि ये हैं तो उचित रूप से इन्हें दूर करना चाहिये। आर्थिक अनुदान देने हेतु जो व्यावहारिक तर्क उपस्थित किया जा सकता है वह यह कि शिक्षा का विध्यात्मक (positive) बाह्य प्रभाव है। मैं इस दृष्टि से अनुसन्धान किये जाने की कल्पना तो कर सकता हूँ, परन्तु शिक्षा जैसी वह है इसमें वह प्रभाव है भी, यह मैं देख नहीं सकता।

यदि विध्यात्मक बाह्य प्रभाव तर्क से सिद्ध नहीं हो सकता तो आर्थिक अनुदान के तत्व को जहाँ तक हो कम करना चाहिये। (यदि ये तर्क से सिद्ध हो सकते हैं, तो इस बात का निर्णय करने का प्रयत्न होना चाहिये कि आर्थिक अनुदान की क्या सीमा हो ?) यदि अनेक भिन्न-भिन्न कारणों से सन्तुलन सुनिश्चित करने वाली बाजार की कीमत का निर्धारण न हो सके और निःशुल्क शिक्षा का आयोजन करना हो तो छात्रों को ऋणों की सुविधा हो, तथा इस दशा में समस्या यह होगी कि जिस पूर्व निर्धारित बाजार मूल्य से शैक्षणिक संस्थाओं में भर्त्ती हो उसका मूल्यांकन तथा प्रयोग किस प्रकार हो। इस दशा में मुझे तर्कसिद्ध ज्ञान नहीं है तथा मैं केवल व्यक्तिगत विचारों एवं अनुभवों की अभिव्यक्ति ही कर सकता हूँ। शिक्षा में निवेशित पूंजी को पहिले विचारार्थ लेने पर, प्रश्न यह उपस्थित होता है कि रोजगार में लगने के समय तक की शिक्षा (प्राथमिक विद्यालयी शिक्षा, जिमनेजियम शिक्षा एवं विश्वविद्यालयी शिक्षा के साथ), आगामी कुछ दशाब्दियों तक पर्याप्त होगी— कम से कम तुलनात्मक मूल्य के लिये जो कि मालिकों (राज्य, म्यूनिसिपेलिटी, व निजी मालिकों) को इस प्रकार की जनशक्ति के लिए देना होगा। यहां मैं शिक्षित कर्मचारी की दूसरे कम शिक्षित कर्मचारियों की तुलना के मूल्य के प्रसंग में कह रहा हूँ। पूर्व निर्धारित मूल्य जो कि लागू होंगे तथा जिसका मूल्य तुलनात्मक दृष्टि से अधिक होगा, उसकी मांग कम होगी। इस प्रकार भर्त्ती में कटौती उचित होगी। रोजगार में प्रवेश के पश्चात् की शिक्षा (अग्रिम शिक्षा further education, प्रौढ़ शिक्षा) के सम्बन्ध में समस्या भिन्न होगी यदि लगाई गई पूंजी के पक्ष को माना जावे। कर्मचारियों को विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम, विचारगोष्ठियों इत्यादि में भेजने की मालिकों की इच्छा के दृष्टिकोण से विचार करने पर जहां कि वे पूरा मूल्य देते हैं, यह विश्वास करना चाहिये कि मांग व उत्पादन दोनों में वृद्धि होगी। उपभोक्ता के दृष्टिकोण से यह शंकास्पद है कि पूर्व निर्धारित मूल्य के तर्क को प्रयुक्त करने पर, शिक्षा के प्रारम्भिक स्तर पर वर्त्तमान की अपेक्षा छात्र-भर्त्ती में भविष्य में तुलनात्मक अधिक मांग होगी यदि समानता एवं आय के वितरण के कारण प्रौढ़ों को शैक्षिक सुविधायें उतनी ही आर्थिक अनुदान से दी जावे जितनी कि युवाओं को, तो निश्चित रूप से इससे मांग में वृद्धि होगी। इस दशा में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि समानता के आधार पर इस प्रकार की विधि अपनानी चाहिये या नहीं। उदाहरणार्थ दूसरी विधि को अपनाना जिससे युवा व्यक्तियों को आर्थिक अनुदान में दी जाने वाली राशि में न्यूनता की जा सके, असम्भव होगा।

अनु. — **विजयबिहारीलाल माथुर**

●